भिक्षु विचार दर्शन

(तेरापथ दर्शन)

मुनि श्री नथमल

भिक्षु-विचार ग्रन्थावली

ग्रन्थ : १

भिक्षु-विचार दर्शन

(तेरापंथ दर्शन)

मुनि श्री नथमल

श्री तेरापथ द्विशताब्दी-समारोह के अभिनन्दन में

प्रकाशक

साहित्य प्रकाशन समिति

(श्री जैन श्वेताम्बर तेरापन्थी महासभा)

३, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट,

कलकत्ता १

●

अर्थ-सहायक

श्रीमती मनोहरी देवी

(स्व. धर्मपत्नी जयचन्दलालजी सेठिया मोमासर निवासी)

ठि. नागपुर घाट एयर ट्रान्सपोर्ट कम्पनी

२ रामलोचन मल्लिक लेन कलकत्ता

●

प्रथमावृत्ति

१९६०

द्वितीयावृत्ति

१९६४

●

प्रति संख्या :

प्र० सं० १५००

द्वि० सं० २२००

●

पृष्ठ संख्या

२१६

●

मूल्य

१ ५०

●

मुद्रक :

शोभाचन्द सुराना

रेफिल आर्ट प्रेस

३१ बड़तल्ला स्ट्रीट,

कलकत्ता-७

दो शब्द

इस पुस्तक के प्रथम सस्करण का, जैसी कि आशा थी, अत्यन्त समादर हुआ। आचार्य भिक्षु के व्यक्तित्व और उनके विचारो के तह तक पहुचने के लिये इस मर्मस्पर्शी पुस्तक का अध्ययन आवश्यक है। विद्वानो द्वारा पुस्तक अत्यन्त प्रशसित हुई है।

साहित्य प्रकाशन समिति ने माग को देख, यह दूसरा सस्करण निकाला है।

इसके प्रकाशन का सारा अर्थ-भार श्रीमती मनोहर देवी (धर्मपत्नी स्व० जयचन्दलालजी सेठिया मोमासर निवासी) ने अपने स्वर्गीय पति की पुनीत स्मृति में ठि० वेलूर घाट एयर ट्रासपोर्ट कम्पनी, २, रामलोचन मल्लिक लेन कलकत्ता ने वहन किया है। एतदर्थ वे अनेक धन्यवाद के पात्र हैं।

दिनाक २ जनवरी १९६४

सयोजक
साहित्य प्रकाशन समिति
(जै० श्वे० तेरा० महासभा)
३ पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट
कलकत्ता-१

प्रकाशकीय

(प्रथम संस्करण)

तेरापथ के आदि-ऋषि का वास्तविक नाम भीखन है। 'भिखु' उसका लघुरूप है। इसी नाम से वे अनेक कृतियों में सम्बोधित किये गये हैं। 'भिखु' शब्द से उनका गुण निष्पन्न संस्कृत सम्बोधन 'भिक्षु' हुआ। इस ग्रन्थ में ऋषि भीखनजी के विचारों की पृष्ठभूमि और हार्द का संक्षिप्त, पर अत्यन्त मार्मिक विश्लेषण है।

इस महान् ऋषि का जन्म मारवाड के कंटालिया ग्राम में सं० १७८३ में हुआ। सं० १८०८ में आचार्य रुघनाथजी के सम्प्रदाय में मुनि हुए। ८ वर्ष उनके साथ रहने के पश्चात् सं० १८१७ में उनसे अलग हुए और आषाढी पूर्णिमा सं० १८१७ के दिन मेवाड़ के केलवा गाँव में स्वयं नई दीक्षा ली। यही दिन तेरापन्थ के शिलान्यास का दिन कहा जा सकता है। आगामी आषाढ शुक्ला १४, सं० २०१७ के दिन तेरापन्थ की संस्थापना के दो सौ वर्ष पूरे होंगे। यह ग्रन्थ द्विशताब्दी समारोह के अभिनन्दन में प्रकाशित किया जा रहा है।

धर्म को अथाह जल-प्रवाह की उपमा दी जा सकती है जो अपने अजस्र प्रवाह में रजकणों के समूह को समेटता चला जाता है। विकास के नाम पर कहिए अथवा पुरुषार्थ की हीनता के कारण कहिए—कालान्तर में धर्म-जैसी स्वच्छ चीज भी धूमिल हो जाती है।

ऋषि एक ऐसा महापुरुष था जिसने आगम के पृष्ठों पर एक गम्भीर दृष्टि डाली और जैन-धर्म के स्वच्छ पटल पर बुरी तरह से आच्छादित रजकणों को दूर करने का भगीरथ प्रयत्न किया। क्रांति की प्रचण्ड किरणें बिखरीं, वे असह्य हुईं, पर उन्होंने तिमिर में से ज्योतिर्मय पथ प्रशस्त कर दिया।

'आगम-उत्थापक' उसका विरद हुआ और 'दया दान का उच्छेदक' पुष्प जो उसपर चढाये जाने लगे। 'शिरच्छेद' ही उसके लिए योग्य उपहार समझा जाता था। पर वह लौहपुरुष इन सबके बीच अपनी साधना में अडिग रहा। बुराइयों पर गहरी चोटें उसने कीं। शुद्ध ज्ञान और श्रद्धा का आलोक उसने प्रदीप्त किया। 'आत्म साधना करे वही साधु'—इस सूक्त को उसने जीवन-प्रदीप के रूप में स्थिर किया।

वह एक द्रष्टा था, जिसने दूर तक देखा और तह तक देखा। दार्शनिक के रूप में वह इतना सुगम, सरल और स्पष्ट है कि वही अपना एक उदाहरण

है। गहराई में वह उतना ही गम्भीर है जितना कि कोई भी बड़ा से बड़ा दार्शनिक।

उसकी जीवन-वाणी में अहिंसा का अमृत भरा हुआ है। 'छोटे-बड़े सबकी आत्मा को अपने समान समझो' 'अपने सुख के लिये दूसरों के जीवन की कीमत को नगण्य मत समझो'—इस घोष का उद्घोषक इन कई शताब्दियों में वैसा दूसरा नहीं हुआ।

उसके विचारों के कलेवर में आज पंख निकल आये हैं। गगन विहारी पक्षी की तरह उसके विचार चिन्तन-जगत् के क्षितिज में उड़ान लेने लगे हैं। उसके विचारों का सत्य आज जगत् के प्रमुख विचारकों की विचारधारा में अनायास अंकुरित हो रहा है।

इस छोटे से ग्रन्थ में तलस्पर्शी प्रकाश है ऐसे ही महापुरुष के जीवन-वृत्तों के आधार में रही हुई विचारधारा और उत्क्रांतिक वाणी पर।

लेखक मुनि जितने गूढ़ हैं उतनी ही गूढ़ता तक पहुँच भी पाये हैं। उन्होंने भीखणजी के विचारों का मंथन कर उसका नवनीत प्रस्तुत कर दिया है। गागर में सागर भरने का प्रयत्न किया। 'आचार्य सन्त भीखणजी' के बाद यह दूसरी पुस्तक है जो इतना सुन्दर प्रकाश उनके विचारों पर डालती है। आचार्य श्री भीखणजी को समझने में यह पुस्तक असाधारण रूप में सहायक हो पायेगी ऐसी आशा है।

द्विशताब्दी समारोह व्यवस्था समिति
१ पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट
कलकत्ता
दिनांक ४ मार्च १९६

श्रीचन्द रामपुरिया
व्यवस्थापक
साहित्य विभाग

आशीर्वचन

'तेरापन्थ द्विशताब्दी के अभिनन्दन में साहित्य की सुन्दर साधना होनी चाहिए'—इस निर्णय के अनुसार जैन आगम-साहित्य की सजावट में हमारा साधु-संघ जुट गया। मूल आगमों का हिन्दी अनुवाद, टिप्पणियाँ तुलनात्मक टिप्पण, प्राकृत-शब्दकोष आदि विविध प्रकार के कार्य चालू हैं। इस अवसर पर 'तेरापन्थ के आचार्यों के जीवन-चरित', 'साधु-साध्वियों की जीवनियाँ,' आदि-आदि विषयक अनेक प्रकार के साहित्य का सृजन भी हो रहा है।

बहुत दिनों से मेरा एक चिन्तन चल रहा था कि तेरापन्थ द्विशताब्दी के अवसर पर 'आचार्य सन्त भीखनजी' के जीवन का दार्शनिक रूप जनता के समक्ष आना चाहिए। मैंने यह विचार शिष्य मुनि नथमलजी से कहा। उन्होंने उसी दिन से इसकी रूप-रेखा अपने मन में तैयार कर ली और कलकत्ता-चातुर्मास के अन्तिम दिनों में मेरी इस भावना को मूर्त्तरूप देते हुए एक ग्रन्थ लिख डाला।

ग्रन्थ का नाम 'भिक्षु-विचार दर्शन (तेरापंथ-दर्शन)' है। इसके सात अध्याय हैं—

१—व्यक्तित्व की झाँकी
२—धर्म-क्रान्ति के बीज
३—साध्य-साधन के विविध पहलू
४—चिन्तन के निष्कष
५—क्षीर-नीर
६—संघ व्यवस्था
७—अनुभूति के महान् स्रोत

इन सातों अध्यायों में स्वामीजी के सिद्धान्तों, मन्तव्यों विचारों एवं निष्कर्षों का खूब गहराई से प्रतिपादन किया गया है। लेखक की भाषा-शैली गम्भीर एवं दार्शनिक है, फिर भी स्वामीजी के विविध जीवन प्रसंगों का तुलनात्मक चिन्तन एवं जीवन के व्यावहारिक पक्ष को जिस सरलता से रखा है, उससे भाषा की जटिलता सुगमता में परिणत हो गई है।

वास्तव में ही यह ग्रन्थ तेरापन्थ-साहित्य में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखेगा। मैं समझता हूँ कि ठीक मेरी भावना के अनुरूप ही यह ग्रन्थ तैयार हुआ है। मेरा विश्वास है कि जहाँ यह बौद्धिक लोगों की ज्ञान पिपासा को शांत करेगा वहाँ स्वामीजी के सिद्धान्तों को सही समझने में भी बहुत उपयोगी सिद्ध होगा।

अन्त में लेखक की लेखन-शक्ति चिन्तन शक्ति और मनन-शक्ति उत्तरोत्तर वृद्धिगत होती रहे यह मैं अन्तःकरण से कामना करता हूँ।

राजलदेसर (राजस्थान)
वि० सं० २ १९ फाल्गुन कृष्णा १४

आचार्य तुलसी

भूमिका

काव्य-रचना, व्याकरण, न्यायशास्त्र, सिद्धान्त, बीज-शास्त्र, ज्योतिष-विद्या में निपुण अनेक आचार्य होते हैं, किन्तु चारित्र में निपुण हों वैसे आचार्य विरले ही होते हैं।[1]

आचार्य भिक्षु उन विरले आचार्यों में थे। उन्होंने चारित्र-शुद्धि को उतना महत्त्व दिया जितना देना चाहिए। ज्ञान, दर्शन और चारित्र—इन तीनों की आराधना ही मुक्ति का मार्ग है। परन्तु परिस्थितिवश किसी एक को प्रधान और दूसरों को गौण करने की स्थिति आ जाती है। आचार्य भिक्षु ने ऐसा नही किया। वे जीवन-भर ज्ञान की आराधना में निरत रहे और उनका चारित्र-शुद्धि का घोषज्ञान-शून्य नही था।

जैन परम्परा में चारित्रिक शिथिलता का पहला सूत्रपात आर्य सुहस्ती के समय में होता है। उसका कारण राज्याश्रय बना।

सम्राट् सम्प्रति के सकेतानुसार सब लोग साधुओं को यथेष्ट भिक्षा देने लगे। भिक्षा की सुगमता देख महागिरि ने आर्य सुहस्ती से पूछा। यथेष्ट उत्तर न मिलने पर उन्होंने आचार्य सुहस्ती से सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया।[2]

धर्मानन्द कोसम्बी ने बौद्ध-धर्म के पतन का एक कारण राज्याश्रय माना है। "श्रमण सस्कृति में जो दोष आए, उसका मुख्य कारण, उसे राज्याश्रय मिलना रहा होगा। बुद्ध ने अपनी छोटी जमींदारी छोड़कर सन्यास लिया और पैंतालिस वर्ष तक धर्म-प्रचार का काम किया। इस काल में महाराजो से उनका सम्बन्ध क्वचित् ही रहा।

"बिंबसार राजा ने बुद्ध का बडा सम्मान किया और उसे वेणुवन दान में दिया, आदि जो कथाएँ विनय-महावग्ग में हैं, वे बिल्कुल कल्पित जान पडती हैं। कारण, सुत्तपिटक में उनके लिए कोई आधार नहीं मिलता। बिंबसार राजा

१—सूक्ति मुक्तावली ५०

केचित्काव्यकलाकलापकुशला केचिच्च सल्लक्षणा,
केचित्तर्कवितर्कतत्त्वनिपुणा केचिच्च सैद्धान्तिका।
केचिन्निस्तुषबीजशास्त्रनिरता ज्योतिर्विदो भूरय,
चारित्रैकविलासवासभवना स्वल्पा पुन सरय॥

२—बृहत्कल्प चूर्णि उ० १

उदार था और वह सब धर्मों के श्रमणों से समान व्यवहार करता था। इस दशा में उसने यदि बुद्ध तथा उनके संघ को अपने वेणुवन में रहने की अनुमति दी हो तो इसमें कोई विशेषता नहीं। [1]

निशीथ सूत्र का पाठ भी शायद इसी दिशा की ओर संकेत करता है। [2]

पंडित बेचरदासजी का मत है— 'दीर्घ तपस्वी भगवान् महावीर और उनके उत्तराधिकारी जम्बू स्वामी तक ही जैन मुनियों का यथोपदिष्ट आचार रहा उसके बाद ही जान पड़ता है कि बुद्ध देव के अतिशय लोकप्रिय मध्यम मार्ग का मन पर प्रभाव पड़ने लगा। शुरू-शुरू में तो शायद जैन-धर्म के प्रसार की भावना से ही वे बौद्ध साधुओं जैसी आचार की छूट देते होंगे परन्तु पीछे इसका उन्हें अभ्यास हो गया। इस तरह एक सदभिप्राय से भी उक्त शिथिलता बढ़ती गई जो आगे चलकर चैत्यवास में परिणत हो गई। [3]

नाथूराम प्रेमी ने भी राजाओं द्वारा प्राप्त प्रतिष्ठा को चारित्र शिथिलता का एक कारण माना है। उन्होंने लिखा है— 'यह कहना तो कठिन है कि किसी समय सबके सब साधु आगमोपदिष्ट आचारों का पूर्णरूप से पालन करते होंगे फिर भी शुरू-शुरू में दोनों ही शाखाओं के साधुओं में आगमोक्त आचारों के पालन का अधिक से अधिक आग्रह था। परन्तु ज्यों-ज्यों समय बीतता गया साधु संख्या बढ़ती गई और भिन्न भिन्न आचार विचार वाले विभिन्न देशों में फैलती गई धनियों और राजाओं द्वारा पूजा-प्रतिष्ठा पाती गई त्यों-त्यों उसमें शिथिलता आती गई और दोनों ही सम्प्रदायों में शिथिलाचारी साधुओं की संख्या बढ़ती गई। [4]

उक्त कारणों के अतिरिक्त और भी अनेक कारण रहे हैं जैसे —

(१) दुर्भिक्ष
(२) लोक-संग्रह
(३) मन्त्र-तन्त्र शक्ति-प्रयोग आदि

१—भारतीय संस्कृति और अहिंसा पृ० ६५ ६६।
२—निशीथ उद्देशक ४।
जे भिक्खू—१ २ रायं अत्तीकरेइ, अच्चीकरेइ, अत्थीकरेइ
४-६ रायारक्खियं ७-९ णगरारक्खियं १०-१२ निगमारक्खियं
१३ १५ देसारक्खियं १६ १८ सव्वारक्खियं अत्तीकरेइ, अच्चीकरेइ अत्थीकरेइ
३—जैन साहित्य और इतिहास पृ० ३ १।
४—वही पृ० ३ १

वीर-निर्वाण ८८२ (विक्रम स० ४१२) में चैत्यवास की स्थापना हुई।[1] चारित्र-शिथिलता का प्रारम्भ पहले ही हो चुका था, किन्तु उसकी एक व्यवस्थित स्थापना इस ६ वीं शती में हुई। उस समय श्वेताम्बर मुनिगण दो भागो में विभक्त हो गये—(१) चैत्यवासी और (२) सुविहित या संविग्न-पाक्षिक। हरिभद्रसूरि ने चैत्यवासियो के शिथिलाचार का वर्णन 'सम्बोध प्रकरण' में करते हुए लिखा है—

"ये कुसाधु चैत्यो और मठो में रहते हैं, पूजा करने का आरम्भ करते हैं, देव-द्रव्य का उपभोग करते हैं, जिन-मन्दिर और शालायें चिनवाते है, रङ्ग-विरङ्गे, सुगन्धित, धूपवासित वस्त्र पहनते है, विना नाथ के बैलो के सदृश स्त्रियो के आगे गाते है, आर्यिकाओ द्वारा लाए गए पदार्थ खाते है और तरह-तरह के उपकरण रखते हैं।

"जल, फल फूल, आदि सचित्त द्रव्यो का उपभोग करते है, दो-तीन बार भोजन करते हैं और ताम्बूल, लवगादि भी खाते हैं।

"ये मुहूर्त निकालते हैं, निमित्त बतलाते है, भभूत भी देते है। ज्योनारो में मिष्ट-आहार प्राप्त करते हैं, आहार के लिए खुशामद करते है और पूछने पर भी सत्य-धर्म नही बतलाते।

"स्वय भ्रष्ट होते हुए भी दूसरो से आलोचना-प्रतिक्रमण कराते है। स्नान करते, तेल लगाते, शृगार करते और इत्र-फुलेल का उपयोग करते हैं।

"अपने हीनाचारी मृतक गुरुओ की दाह-भूमि पर स्तूप बनवाते हैं। स्त्रियो के समक्ष व्याख्यान देते हैं और स्त्रियाँ उनके गुणो के गीत गाती है।

"सारी रात सोते है, क्रय विक्रय करते हैं और प्रवचन के बहाने विकथाएं किया करते है।

"चेला बनाने के लिए छोटे छोटे बच्चो को खरीदते है, भोले लोगो को ठगते है और जिन-प्रतिमाओ को भी बेचते-खरीदते हैं।

"उच्चाटन करते हैं और वैद्यक, यंत्र, मन्त्र, गडा, तावीज आदि में कुशल होते हैं।

"ये सुविहित साधुओ के पास जाते हुए श्रावको को रोकते है, शाप देने का भय दिखाते है, परस्पर विरोध रखते हैं और चेलो के लिए एक दूसरे से लड मरते हैं।"[2]

१—धर्मसागर कृत पट्टावली (वीरात् ८८२) चैत्यस्थिति

२—संबोध प्रकरण :

चेइयमढाइवासं पूयारंभाइ निच्चवासित्त।
देवाइदव्वभोग जिणहरसालाइकरण च ॥ ६१ ॥

जो लोग इन भ्रष्ट चरित्रों को भी मुनि मानते थे उनको लक्ष्य करके भी हरिभद्रसूरि कहते हैं—

'कुछ नासमझ लोग कहते हैं—'कि यह भी तीर्थंकरों का वेष है इसे नमस्कार करना चाहिए।' अहो धिक्कार हो इन्हें। मैं अपने सिरशूल की पुकार किसके आगे जाकर करूँ ? [१]

बौद्ध भिक्षुओं में चैत्यवास जैसी परिग्रही परम्परा का प्रारम्भ सम्राट् अशोक के समय से होता है। यद्यपि महात्मा बुद्ध अपने लिए बनाए गए विहार में रहते थे किन्तु अशोक से पहले भिक्षु-संघ की जो स्थिति थी वह बाद में नहीं रही। "अशोक के बाद यह स्थिति बदली। बौद्ध धर्म राज्याश्रित बना। राज्याश्रय प्राप्त करने का प्रयत्न प्रथमतः बौद्धों ने किया या जैनों ने, यह नहीं कहा जा सकता। यदि यह सच माना जाए कि चन्द्रगुप्त मौर्य जैन था तो कहना पड़ेगा कि राज्याश्रय प्राप्त करने का प्रथम प्रयत्न जैनों ने किया। पर यह प्रश्न बहुत महत्व का नहीं है। इतना सच है कि अशोक के बाद बौद्ध और जैन दोनों ही पंथों ने राज्याश्रय प्राप्त करने का प्रयत्न किया।

"अशोक के शिलालेखों में इसके लिए कोई आधार नहीं मिलता कि अशोक को बुद्धोपासक बनाने का किसी बौद्ध साधु ने प्रयत्न किया। पर यह

चरणाइ विचित्तवण्णाइं अइसियसद्दाइं धूवगाइं।
परिहाइ जत्थ जई तं गच्छं मूलगुणमुक्कं ॥ ४६ ॥
अन्नतित्थियसरिसा इय पुरओ गायंति जत्थ महिलाणं।
जत्थ जयारमयारं समणी भासं सयं दिंति ॥ ४९ ॥
संमिहि माहप्पम्मं जिणवयणमुज्झाइ सव्व सच्छिंदं।
गिन्ह सुविणाइं मोहत्तं विणासन्नोपाइ संजोइं ॥ ५७ ॥
जरणप्पाइं जोइस निमित्तोगिच्छमंतं जोगाइं।
मिच्छत्तरायसेवं नीयाण वि पावसाहिज्जं ॥ ६१ ॥
खमाकिय जिमसूत्तासमत्थं सयकलाणं जिम्माणि।
गिहिपुरओ अंगाइसयसमधुमी पजुआए ॥ ६८ ॥
जत्थोयगाहरलमाइ दव्वं मिसनिस्सएण संगहियं।
गिहि गेहंमि य जेसिं त किविमो जाण न हु मुणिणो ॥ ८१ ॥
गिहिपुरओ सव्वं करिंति अन्नोन्नमेव कुप्पंति।
सीयाइपाल जत्थे जत्थवित्ताणी चयरेंति ॥ १६२ ॥
किं बहुणा भणिएणं बालाणं ते हवंति रमणिज्जा।
दक्खाणं पुण एए विराहगा छन्नपावहरा ॥ १६३ ॥

१—संबोध प्रकरण।

बाला वयंति एवं वेसो तित्थंकराण एसो वि।
नमणिज्जो धिद्धी अहो सिरसूलं कस्स पुक्करिमो ॥ ७६ ॥

बात भी विशेष महत्त्व की नही है। इसमें सन्देह नही कि बौद्ध बनने के बाद उसने अनेक विहार बनवाए और ऐसी व्यवस्था की कि हजारो भिक्षुओ का निर्वाह सुखपूर्वक होता रहे। दन्तकथा तो यह है कि अशोक ने चौरासी हजार विहार बनवाए, पर इसमें तथ्य इतना ही जान पडता है कि अशोक का अनुकरण कर उसकी प्रजा ने और आस-पास के राजाओ ने हजारो विहार बनवाए और उनकी सख्या अस्सी-नव्वे हजार तक पहुँची।

"अशोक राजा के इस कार्य से बौद्ध भिक्षु-सघ परिग्रहवान् बना। भिक्षु की निजी सपत्ति तो केवल तीन चीवर और एक भिक्षा-पात्र भर थी। पर सघ के लिए रहने की एकाध जगह लेने की अनुमति बुद्ध-काल से ही थी। उस जगह पर मालिकी गृहस्थ की होती थी और वही उसकी मरम्मत आदि करता था। भिक्षु-सघ इन स्थानों में केवल चातुर्मास-भर रहता और शेष आठ महीने प्रवास करता हुआ लोगो को उपदेश दिया करता था। चातुर्मास के अतिरिक्त यदि भिक्षु-सघ किसी स्थान पर अधिक दिन रह जाता था, तो लोग उसकी टीका-टिप्पणी करने लगते थे। पर अशोक-काल के बाद यह परिस्थिति बिल्कुल बदल गई। बडे-बडे विहार बन गए और उनमें भिक्षु स्थायी रूप से रहने लगे।"[1]

आचार्य भिक्षु ने (वि० १६वीं शती में) अपने समय की स्थिति का जो चित्र खींचा है, वह (वि० ८-९ वी शती के) हरिभद्रसूरि से बहुत भिन्न नही है। वे लिखते हैं—

१—आज के साधु अपने लिए बनाए हुए स्थानकों में रहते हैं।[2]
२—पुस्तक, पन्ने, उपाश्रय को मोल लिवाते है।[3]
३—दूसरों की निन्दा में रत रहते है।[4]

१—भारतीय संस्कृति और इतिहास पृ० ६६ ६७
२—आचार री चौपई १ २

आधाकर्मी थानक में रहे तो, ते पाडे चारित में भेद जी।
नशीत रे दशमें उदेशे, च्यार महीना रो छेद जी॥

३—वही १ ७

पुस्तक पातर उपाश्रादिक, लिवरावे ले ले नाम जी।
आछा मूंडा कहि मोल बतावे, ते करे ग्रहस्थ नो काम जी॥

४—वही १ १७

पर निंदा में राता माता, चित्त में नहीं सतोष जी।
वीर कह्यो दसमां अंग में, तिण वचन में तेरे दोष जी॥

१०—जीमनवारो में गोचरी जाते हैं।[1]

११—चेला-चेली बनाने के लिये आतुर हो रहे है। इन्हें सम्प्रदाय चलाने से मतलब है, साधुपन से नहीं।[2]

१२—साधुओ के पास जाते हुए श्रावकों को ज्यो-त्यो रोकने का यत्न करते हैं। उनके कुटुम्ब में कलह का बीज लगा देते हैं।[3]

१३—आज वैराग्य घट रहा है, भेख बढ़ रहा है। हाथी का भार गधों पर लदा हुआ है। वे थक गए हैं और उन्होंने वह भार नीचे डाल दिया है।[4]

आचार-शिथिलता के विरुद्ध जैन-परम्परा में समय-समय पर क्रान्ति होती रही है। आर्य सुहस्ती, आर्य महागिरि के सावधान करने पर तत्काल सम्हल गए।[5] चैत्यवास की परम्परा के विरुद्ध सुविहित-मार्गी साधु बरावर जूझते रहे। हरिभद्रसूरि ने 'सबोध प्रकरण' की रचना कर चैत्यवासियों के कर्तव्यो का विरोध किया। जिनवल्लभसूरि ने 'सघपट्टक' की रचना की और सुविहित-मार्ग को आगे बढ़ाने का यत्न किया। जिनपतिसूरि ने सघपट्टक पर ३ हजार श्लोक-प्रमाण टीका लिखी, जिसमें चैत्यवास का स्वरूप विस्तार से बताया। चैत्यवास के विरुद्ध यह अभियान सतत चालू रहा।

विक्रम की सोलहवीं शती में लोंकाशाह ने मूर्ति-पूजा के विरुद्ध एक विचार

१—आचार री चौपई • १ २०-२१

जीमणवार में वेंहरण जाए, आ साधां री नहीं रीत जी।
वरज्यो आचारांग ब्रहतकल्प में, उत्तराधेन नसीत जी॥
आलस नहीं आरा में जातां, वले बेठी पात वसेष जी।
सरस आहार ल्यावे भर पातर, त्यां लज्या छोडी ले भेष जी॥

२—वही • ३ ११

चेला चेली करण रा लोभिया रे, एकत मत बांधण सू काम रे।
विकलां ने मूंड-मूंड भेला करे रे, दिराए ग्रहस्थ ना रोकड़ दाम रे॥

३—वही ४ ३३-३४

केइ आवे सुध साधां कनें, तो सतीयां नें कहे आम।
यें वर्जी राखो घर रा मनुष्य नें, जावा मत द्यो ताम॥
कहे दरसण करवा दो सती, वले सुणता मत दो वांण।
डराए नें ल्यावो म्हां कनें, ए कुगुरु चरित पिछांण॥

४—वही ६ २८

वैराग घट्यो नें भेष वधियो, हाथ्यां रो भार गधा लदियो।
थक गया बोझ दियो रालो, एहवा भेषधारी पांच में कालो॥

५—बृहत्कल्प चूर्णि, उद्देशक १, निशीथ चूर्णि उ० ८

क्रान्ति की। लोंकाशाह की हुंडी में शिथिलाचार के प्रति स्पष्ट विद्रोह की भावना मुखर रही है।[1]

लोंकाशाह के अनुगामी जो शिष्य बने वे चारित्र की आराधना में विशेष जागरूक रहे।

वि. सं. १५८२ में तपागच्छीय आनन्दविमलसूरि ने चारित्र शिथिलता को दूर करने का प्रयत्न किया। वे स्वयं उग्र-विहारी बने। उन्होंने १५८३ में एक ३५ सूत्रीय नियम-पत्र लिखा। उसके प्रमुख सूत्र हैं —[2]

१—विहार गुरु की आज्ञा से किया जाए।

२—वणिक के सिवाय दूसरों को दीक्षा न दी जाए।

३—परीक्षा कर गुरु के पास विधिपूर्वक दीक्षा दी जाए।

४—गृहस्थों से वेतन दिलाकर पंडितों के पास न पढ़ा जाए।

५—एक हजार श्लोक से अधिक 'लहियों'—प्रतिलिपि करने वालों—से न लिखाया जाए।

आचार की शिथिलता और उसके विरुद्ध क्रान्ति—यह क्रम दिगम्बर-परम्परा में भी चलता रहा है। भट्टारकों की क्रिया चैत्यवासियों से मिलती-जुलती है। वे भी उग्र विहार को छोड़ मठवासी हो गए। एक ही स्थान में स्थायीरूप से रहने लगे। उद्दिष्ट भोजन करने लगे। कोड़े का कमण्डलु रखना, कपड़े के जूते पहनना, सुखासन—पालकी पर चढ़ना आदि-आदि प्रवृत्तियाँ इनमें घर कर गई।[3] त्रिवर्णाचार, धर्मरसिक आदि ग्रन्थ रचे गए। उनमें जैन-मान्यताओं की निर्मम हत्या की गई है।[4]

१—१६९ बोल की हुंडी : [illegible] विचार पृ. १५५

२—जैन साहित्य संशोधक खण्ड ३ अंक ४ पृ. ३५९

३—सरस्वती (देखो जैन हितैषी भाग ७ अंक ९)

४—(क) त्रिवर्णाचार ४।८५

वर्षाहीमस्त्वा हारं स्नानाद्यः शिरःसर्पणम्।
विनष्टा भुवास्मागं न कुर्यात् स्त्रियं बिना॥

(ख) धर्मरसिक :

भस्मपुराण्यमासीनां दर्शने भाषणे श्रुते।
क्षुतेऽधोवातगमने जृम्भणे जपमुत्सृजेत्॥३१॥

(ग) धर्मरसिक :

अस्सयो वापिका कूपा वापी पुष्करिणी सरः।
तेषां मध्ये न तु [illegible] स्नानं पानाय च कदाचित्॥५९॥

षट् प्राभृत की टीका में भट्टारक श्रुतसागर ने लोंकाशाह के अनुयायियो को जी-भर कोसा है और शासन-देवता की पूजा का निषेध करने वालों को चार्वाक, नास्तिक कहकर समर्थ आस्तिकों को सीख दी है कि वे उन्हें ताडना दें। उसमें उन्हें पाप नही होगा।[1]

इस भट्टारक-पथ की प्रतिक्रिया हुई। फलस्वरूप 'तेरहपथ' का उदय हुआ। विक्रम की सत्रहवी शती (१६८३) में पडित बनारसीदासजी ने भट्टारक-विरोधी मार्ग की नीव डाली। प्रारम्भ में इसका नाम वाराणसीय[2] या बनारसी मत जैसा रहा, किन्तु आगे चल इसका नाम तेरहपथ हो गया।

प० नाथूरामजी प्रेमी के अनुसार यह नाम श्वेताम्बर तेरापन्थ के उदय के पश्चात् प्रयुक्त होने लगा है—"तेरापन्थ नाम जब प्रचलित हो गया, तब भट्टारको का पुराना मार्ग बीसपन्थ कहलाने लगा। परन्तु यह एक समस्या ही है कि ये नाम कैसे पड़े और इन नामों का मूल्य क्या है। इनकी व्युत्पत्ति बतलाने वाले जो कई प्रवाद प्रचलित है, जैसे 'तेरह प्रकार के चारित्र को जो पाले' वह—तेरापन्थी और 'हे भगवान् यह तेरापन्थ है' आदि, उनमें कोई तथ्य मालूम नही होता और न उनसे असलियत पर कुछ प्रकाश ही पडता है।

"बहुत सभव है कि ढूढको (स्थानकवासियों) में से निकले हुए तेरहपथियों के जैसा निन्दित बतलाने के लिए वे लोग जो भट्टारको को अपना गुरु मानते थे तथा इनसे द्वेष रखते थे, इसके अनुगामियों को तेरापन्थी कहने लगे हों और धीरे-धीरे उनका दिया हुआ यह कच्चा 'टाइटल' पक्का हो गया हो, साथ ही वे स्वय इनसे बड़े बीसपन्थी कहलाने लगे हो। यह अनुमान इसलिए भी ठीक जान पड़ता है कि इधर के लगभग सौ डेढ़-सौ वर्ष के ही साहित्य में तेरहपन्थ के उल्लेख मिलते हैं, पहले के नही।"[3]

श्वेताम्बर-परम्परा में तेरापन्थ की स्थापना वि० संवत् १८१७ (आषाढी पूर्णिमा) में हुई। इसके प्रवर्तक थे आचार्य भिक्षु। वे सवत् १८०८ में स्थानकवासी सम्प्रदाय (जिसका आरम्भ लोंकाशाह की परम्परा में हुआ) में दीक्षित हुए और १८१६ में उससे सम्बन्ध-विच्छेद कर पृथक् हुए। उनकी दृष्टि में

१—षट् प्राभृत-मोक्ष प्राभृत टीका •
"उभय भ्रष्टावेदितव्या ते लौंका" (पृ० ३०५) "लौंका पातकिन" (पृ० ३०५) 'लौंकास्तुनरकादौ पतन्ति" (पृ० ३०६) ते पापमूर्तय श्वेताम्बराभासा लोकापकारकाय नामानो लौंका" (पृ० ३०६) "शासन देवता न पूजनीया इत्यादि ये उत्सूत्र मन्वते ते मिथ्यादृष्टयश्चार्वाका नास्तिकास्ते। यदि कदाग्रह न मुञ्चन्ति तदा समर्थैरास्तिकैरुपानद्भि गूयलिप्ताभिर्मुखे ताडनीया, तत्र पाप नास्ति।"

२—युक्ति प्रबोध १८

३—जैन साहित्य और इतिहास पृ० ३६६-६८

उस समय वह सम्प्रदाय चारित्रिक शिथिलता से आक्रान्त हो गया था। आचार्य भिक्षु ने आगमों का अध्ययन किया तब उन्हें लगा कि आज हमारा आचरण सर्वथा आगमानुमोदित नहीं है और सिद्धान्त-पक्ष भी विपरीत है।[1] उनका अन्तर्द्वन्द्व अभी प्रारम्भिक दशा में था। राजनगर (मेवाड़) के श्रावकों ने उसमें तीव्रता ला दी। आचार्य रघुनाथजी ने भिक्षु को भेजा था उन श्रावकों को समझाने के लिए और वे ले आये उनकी समझ को अपनी समझ का रूप देकर। भिक्षु की प्रतिभा पर आचार्य और श्रावक दोनों को भरोसा था।

आचार्य ने सोचा राजनगर के श्रावक साधुओं के आचार को लेकर शंकित हैं। उन्हें हर कोई नहीं समझा सकता। भिक्षु सूक्ष्म प्रतिभा का धनी है। वही उन्हें समझा सकता है। आचार्य ने सारी बात समझा राजनगर चातुर्मास के लिए भिक्षु को भेजा।

भिक्षु केवल शास्त्रज्ञ ही नहीं थे व्यवहार-पटुता भी उनकी बेजोड़ थी। उन्होंने श्रावकों की मानसिक स्थिति का अध्ययन किया। श्रावक निर्दोष थे। वे साधुओं को इसीलिए वन्दना नहीं करते थे कि साधु चारित्र शिथिलता का सेवन कर रहे हैं। श्रावक भिक्षु की प्रतिभा और वैराग्य पर भरोसा करते थे। प्रतिभा का सम्बन्ध मस्तिष्क से है और वैराग्य का हृदय से। विश्वास हृदय से जुड़ता है तभी उसका सम्बन्ध मस्तिष्क से होता है। भिक्षु का हृदय भी स्वच्छ था और मस्तिष्क भी स्वच्छ। इसलिए श्रावकों ने उनके परामर्श की अवहेलना नहीं की और वे साधुओं को वन्दना करने लगे। किन्तु विश्वास का बोझ सिर पर लेना कोई कम बात नहीं है। भिक्षु उस बोझ से भरे हो गए। उनका दायित्व बढ़ गया। उन्होंने प्रत्येक आगम को दो-दो बार पढ़ा।[3] आगम की विधियों और साधु-समाज के व्यवहारों में उन्हें स्पष्ट अन्तर दीखा और वे इस

१—भिक्षु जश रसायन २ दोहा ६

सरधा पिण साची नहीं अवलो नहीं आचार।
इम चिंत करे आलोचना भिक्षु गुरु सूं अति प्यार॥

२—वही : २.१२

आप वैरागी बुद्धिवन्त अति आपरी परतीत।
तिण कारण वन्दना करी आप कह्या में प्रतीत॥

३—वही : ३ दोहा ५-६

श्री दुवारो आवियो भले सूत्रां मन में धार।
दोय दोय बार सूत्रां भणी वांच्या पर अति प्यार॥
सूत्र विविध निर्णय करी नाखी मन में धार।
समकित चारित्र मिलै नहीं सूत्रां कियो विचार॥

खाई को पाटने के लिए आगे बढे। चातुर्मास समाप्त हुआ। आचार्य के पास आए। परिस्थिति का सकेत आचार्य तक पहुँच चुका था।

भिक्षु के साथ टोकरजी, हरनाथजी, वीरभाणजी और भारीमलजी—ये चार साधु और थे। वापस आते समय ये दो भागो में विभक्त होकर आए। भिक्षु ने वीरभाणजी से कहा—"पहले पहुँच जाओ तो राजनगर की स्थिति की आचार्य के पास चर्चा न करना। मैं ही उसे समुचित ढग से उनके सम्मुख उपस्थित करूँगा।" किन्तु वीरभाणजी बात को पचा नही सके। वे पहले पहुँचे और राजनगर की घटना को भी आचार्य तक पहुँचा दिया। भिक्षु ने आचार्य के पास पहुँच कर सारा घटना-चक्र बदला हुआ पाया। उन्होंने परिस्थिति को सभाला। आचार्य को प्रसन्न कर सारी स्थिति उनके सामने रखी। कोई सन्तोषजनक समाधान नही मिला। भिक्षु ने उनसे सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया।

जैन-परम्परा में एक नया सम्प्रदाय जन्म लेगा—यह कल्पना न आचार्य रुघनाथजी को थी और न स्वय भिक्षु को भी। यह कोई गुरुत्व और शिष्यत्व का विवाद नही था।[1] भिक्षु के मन में रुघनाथजी को गुरु और स्वय को उनका शिष्य मानने की भावना नही होती तो वे दूसरा सम्प्रदाय खडा करने की बात सोचते। किन्तु वे ऐसा क्यों सोचते? आचार्य रुघनाथजी से उन्हें बहुत स्नेह था। आचार्य रुघनाथजी एक बडे सम्प्रदाय के महान् नेता थे। उनके उत्तराधिकारी के रूप में भिक्षु का नाम लिखा जाता था।[2] फिर वे क्यों उनसे पृथक् होते? किन्तु भिक्षु के मन में और कोई भावना नही थी। वे केवल चारित्र-शुद्धि के लिये छटपटा रहे थे।[3] यही था उनका ध्येय और इसी की पूर्ति के लिए वे अपने आचार्य से खेद के साथ पृथक् हुए।

१—भिक्षु जश रसायण ४ १०
जो थे मानों हो सूत्र नीं बात,
तो थेइज म्हांरा नाथ।
नहिंतर ठीक लागे नहीं॥

२—वही २ दोहा ९
पटधारक भिक्खु प्रगट, हद आपस में हेत।
इतलै कुण विरतन्त हुवो, सुणज्यों सहू सचेत॥

३—वही ४ ११-१३
म्हें घर छोड्यो हो आतम तारण काम।
और नहीं परिणाम।
तिण स वार वार कहूँ आपनें॥

जैन-परम्परा में अनेक सम्प्रदाय हैं पर उनमें तात्त्विक मतभेद बहुत कम है। अधिकांश सम्प्रदाय आचार विषयक मान्यताओं को लेकर स्थापित हुए हैं। देश काल की परिस्थिति से उत्पन्न विचार, आगमिक सूत्रों की व्याख्या में क्वचित्-क्वचित् मतभेद रुचिभेद आदि-आदि कारण ही जैन साधु-संघ को अनेक भागों में विभक्त किए हुए हैं। राजनगर के श्रावकों ने जो प्रश्न उपस्थित किए, वे भी आचार विषयक थे। उन्होंने कहा—'वर्तमान साधु उद्दिष्ट (साधु के निमित्त बनाया हुआ) आहार लेते हैं उद्दिष्ट स्थानकों में रहते हैं वस्त्र-पात्र सम्बन्धी मर्यादाओं का पालन नहीं करते बिना आज्ञा जिस तिस को मूँड लेते हैं आदि-आदि आचरण साधुत्व के प्रतिकूल हैं।'[1] भिक्षु मान्यता और आचार दोनों में त्रुटि अनुभव कर रहे थे। उसी समय उन्हें यह प्रेरणा और मिली।

वस्त्र-पात्र के विषय में श्वेताम्बर और दिगम्बर परम्परा में मतभेद है किन्तु उद्दिष्ट आहार आदि के विषय में कोई मतभेद नहीं है। सैद्धान्तिक दृष्टि से कोई भी जैन-मुनि यह नहीं कह सकता कि उद्दिष्ट आहार लिया जा सकता है उद्दिष्ट स्थानकों में रहा जा सकता है। किन्तु उस समय एक मानसिक परिवर्तन अवश्य हो गया था—'अभी दुष्षम समय है पाँचवाँ आरा है कलिकाल है। इस समय साधु के कठोर नियमों को नहीं निभाया जा सकता।' इस धारणा ने साधु-संघ को शिथिलता की ओर मोड़ दिया।[2]

आप मानों हो स्वामी सत्रां री बात
छोड़ देवो पखपात
एकचित परभव आपणो ॥
पूजा प्रशंसा री लागी अनन्ती वार
दुर्लभ अवसर सीकार
निर्णय करो आप पूछो ॥

१—भिक्षु जश रसायन : २ ८ ९
आधाकर्मी-थानक भोगवता मोल लिया प्रसिद्ध।
वलि वस्त्र पात्र अधिक ही था जिन वे आप मीची ॥
जोग विकाइ करो सदा एकाकि अनमोल।
म्हे वस्त्रा करो किम रीत सू ये तो पाप्या दोष ॥

२—दशवैकालिक १।४ मूलाचार ६।१

३—भिक्षु जश रसायन ५, १५ १६
पञ्चमकाल दशमी लह्यो रे, सोमल भिक्षु बात।
पूरो साधपणो नहीं पले रे दुःखमकाल साक्षात ॥
भिक्षु कहे इम भाखियो रे, सूत्र आचारांग मांय।
शिथिल मारग इम भाखसी रे, हियडा शुद्ध न काय ॥

यह एक जटिल पहेली-सी लगती है कि किसे चारित्र-शुद्धि कहा जाए और किसे चारित्र-शिथिलता ? क्योंकि आगमिक व्याख्याओं और सूक्ष्म रहस्यो का पार पाना जलधि-तरण से भी अधिक श्रम-साध्य है ।

१—एक आचार्य ने एक कार्य को शिथिलाचार माना है, दूसरे ने नहीं माना । एक आचार्य ने एक प्रवृत्ति का खण्डन किया है, दूसरे ने उसका समर्थन किया है । हरिभद्रसूरि ने साधु को तीसरे पहर के अतिरिक्त गोचरी करने और बार-बार आहार करने को शिथिलाचार बताया है, किन्तु आचार्य भिक्षु ने इसे अस्वीकार किया है ।[1]

२—अनेक आचार्यो ने १४ उपकरणो से अधिक उपकरण रखना साधु के लिए निषिद्ध बतलाया है, किन्तु आचार्य भिक्षु ने इसका खण्डन किया है ।[2]

३—कई आचार्यो की मान्यता रही है कि साधु न लिखे और न चित्र बनाए । आचार्य भिक्षु ने इसका खण्डन किया है ।[3]

४—हरिभद्रसूरि ने साध्वियों द्वारा लाया गया आहार लेने को शिथिलाचार कहा है, किन्तु आचार्य भिक्षु ने इसे शिथिलाचार नही माना ।

५—कई आचार्यो ने साधुओ के लिए कविता करने का निषेध बतलाया है, आचार्य भिक्षु ने इसे मान्य नही किया ।[4]

कही-कही रूढियों में कठोर आचार और कठोर आचार मे रूढि की कल्पना हो जाती है । यद्यपि सामयिक विधि-निषेधों के आधार पर चारित्र की शुद्धि या शिथिलता का एकान्तिक निर्णय करना कठिन हो जाता है, फिर भी कुछ विषय ऐसे स्पष्ट होते हैं कि उनके आधार पर चारित्र की शुद्धि या शिथिलता का निर्णय करने में कोई विशेष कठिनाई नही होती ।

आचार्य भिक्षु ने चारित्रिक-शिथिलता के जो विषय प्रस्तुत किए है उनमें कुछ विषय ऐसे हैं कि जो प्रचुर मात्रा में व्याप्त थे और जिनके कारण तत्कालीन साधु-समाज को चरित्र-शिथिलता से आक्रान्त कहा जा सकता है, कुछ ऐसे हैं, जो किसी-किसी साधु में मिलते होंगे । भिक्षु का दिशा-सूचक यत्र आगम थे । उन्ही के सहारे से उन्होंने शुद्धाचार-अनाचार का निर्णय किया । उनका कहना था—"आगम और जिन-आज्ञा ही मेरे लिये प्रमाण हैं । वे ही मेरे आधार है ।" इनके सब निर्णय इसी कसौटी पर कसे हुए थे और इसीलिये अपने आप में शुद्ध थे ।

१—आचार री चौपई ढाल १७
२—जिनाग्या री चौढालियो उपकरण की ढाल
३—वही
४—आचार री चौपई ढाल ६

तेरापन्थ की स्थापना युग की माँग थी। आचार्य भिक्षु के नेतृत्व में तेरह साधु एकत्रित हुए। किसी कवि ने नाम रख दिया तेरापन्थ।[1] यह आचार्य भिक्षु तक पहुँचा। उन्होंने उसे—'हे प्रभो यह तेरापन्थ' इस रूप में स्वीकार किया और इसकी सैद्धान्तिक व्याख्या यह की—"जहाँ पाँच महाव्रत—अहिंसा सत्य अचौर्य ब्रह्मचर्य अपरिग्रह, पाँच समिति—ईर्या भाषा एषणा आदान निक्षेप उत्सर्ग और तीन गुप्ति—मन वचन शरीर—ये तेरह (राजस्थानी में तेरा) नियम पाले जाते हैं—वह तेरापन्थ है।

आचार्य भिक्षु ने १८१ बोल की व १०६ बोल की हुंडी में वर्तमान साधु समाज की आचार शिथिलता का पूरा विवरण प्रस्तुत किया है। उस समय निम्न मान्यताएँ और क्रिया-कलाप प्रचलित हो गए थे—

१—भगवान् महावीर का भेख भी वन्दनीय है।

२—इस समय शुद्ध साधुपन नहीं पाला जा सकता।

३—व्रत और अव्रत को पृथक्-पृथक् न मानना।

४—मिश्र धर्म की मान्यता—एक ही क्रिया में पुण्य और पाप दोनों का स्वीकार।

५—लौकिक दया और दान को लोकोत्तर दया और दान से पृथक् न मानना।

६—जिस कार्य के लिए भगवान् महावीर की आज्ञा नहीं है वहाँ धर्म मानना।

७—दोषपूर्ण आचार की स्थापना करना।

८—स्थापित स्थानक में रहना।

९—उद्दिष्ट आहार लेना।

१—भिक्षु जश रसायण। पृ २१

साध साध रो गिलो करै त तो आप आपरो मंत।
सुणज्यो रे शहर रा लोकां ए तेरापन्थी तंत॥

२—वही। ७ ६-७

लोक कहै तेरापन्थी भिक्षु संतसी भावै हो।
हे प्रभु ओ थारो पन्थ है और नाम न आवै हो॥
मन भ्रम मिटावै हो सो ही तेरापन्थ पावै हो।
पंच महाव्रत पालता शुद्धि सुमति गुप्ति गुणावै हो॥
तीन गुप्त तीखी तरे मत आगम भाव हो।
जिन ए तरा ही चाहवै हो॥

१०—साधु के निमित्त खरीदी वस्तुओं का उपयोग करना।

११—नित्य प्रति एक घर से भोजन लेना।

१२—वस्त्र-पात्र का प्रतिलेखन करना।

१३—अभिभावकों की आज्ञा प्राप्त किए बिना गृहस्थ को दीक्षित करना।

१४—मर्यादा से अधिक वस्त्र-पात्र रखना।

१५—गृहस्थों से अपने लिए प्रतियाँ लिखवाना।[1]

इन्ही विचारों और आचरणों की प्रतिक्रिया हुई और उसी का परिणाम तेरापन्थ है।[2]

तेरापन्थ का प्रारम्भ वि० १८१७ आषाढ़ी पूर्णिमा से होता है। उसी दिन आचार्य भिक्षु ने नए सिरे से व्रत ग्रहण किए।[3] इस प्रकार उनकी दीक्षा के साथ ही तेरापन्थ का सहज प्रवर्तन हुआ।

महापुरुष का अन्त करण परमार्थ से परिपूर्ण होता है। वह जैसे अपना हित चाहता है, वैसे दूसरों का भी। आचार्य भिक्षु को जो श्रेयोमार्ग मिला, उसे उन्होंने दूसरों को भी दिखाना चाहा, पर नए के प्रति जो भावना होती है वही होती है। पुराने को जो विश्वास प्राप्त होता है, वह सहसा नए को नहीं होता। नई स्थिति में सर्वप्रथम विरोध का सामना करना पड़ता है। आचार्य भिक्षु का

१—१८१ बोल की हुँडी · बोल १२६

२—भिक्षु जश रसायण २ दोहा १ ५

अल्प दिवस रे आंतरै, सिख्या सूत्र सिद्धान्त।
तीव्र बुद्धि भिक्खु तणी, सुखदाई शोभन्त।
विविध समय रस वांचतां, वारूं कियो विचार।
अरिहन्त वचन आलोचतां, ऐ असल नहीं अणगार॥
यां थापिता थानक आदरया, आधाकर्म्मी अजोग।
मोल लियां मांहि रहे, नित्य पिण्ड लिए निरोग॥
पडिलेह्यां विण रहै पड्या, पोथ्यां रा गञ्ज पेख।
विण आज्ञा दीक्षा दिये, विवेक विकल विशेष॥
उपधि वस्त्र पात्र अधिक, मर्य्यादा उपरन्त।
दोष थापै जाण नैं, तिण सूं ए नहीं सन्त॥

३—वही : ८ ३-४

सम्वत् अठारै सतरै समै, मु० पञ्चाङ्ग लेखे पिछाण हो।
आषाढ सुदी पुनम दिने, मु० केलवे दीक्षा कल्याण हो॥
अरिहन्त नी लेइ आगन्या, मु० पचख्या पाप अठार हो।
सिद्ध साखे करी स्वाम जी, मु० लीधो संजम भार हो॥

तेरापन्थ बना था। उन्होंने जो विचार प्रस्तुत किए, वे नए थे। इसलिए उनका विरोध होने लगा। प्रतिदिन बढ़ते विरोध ने आचार्य भिक्षु की परिकल्पना को यह रूप दिया — 'मेरे मत में कौन साधु होगा और कौन श्रावक-श्राविका? मुझे आत्मा का कल्याण करना है। दूसरे लोग मुझे न सुनना चाहें तो मैं अपने कल्याण में लगूं।'[१]

कल्पना को मूर्तरूप मिला और आचार्य भिक्षु ने एकान्तर (एक दिन उपवास और एक दिन आहार) और वन में आतापना लेना प्रारम्भ कर दिया। लम्बे समय तक यह क्रम चला। एक दिन थिरपाल और फतेहचन्द दोनों साधु आए। उन्होंने प्रार्थना की— 'गुरुदेव! तपस्या का अवकाश हमें दें और आप जनता को प्रतिबोध दें।'[२] यह तेरापन्थ के विकास का पहला स्तर था। आचार्य भिक्षु ने उनकी प्रार्थना को सुना और फिर एक बार जनता को प्रतिबोध देना शुरू किया। यह प्रयत्न सफल हुआ। लोगों ने आचार्य भिक्षु को सुना।

अब क्रमशः तेरापन्थ का वट-वृक्ष विस्तार पाने लगा।

आचार्य भिक्षु ने परिवर्तित स्थिति को देख ग्रन्थ निर्माण का कार्य शुरू किया।[४]

१—भिक्खु जश रसायण : १ दोहा ६-७

जब भिक्खु मन जाणियो पर तन कष्ट किल्याण।
मग नहीं दिसे चालतो भाति पन लोग अजाण॥
पर छोड़ी मुझ पन्थ मझो संजम गुण से सोय।
श्रावक ये वलि श्राविका हूंता न दीसे कोय॥

२—वही : १ दोहा ८-९

एहवी करे आलोचना एकन्तर अणपार।
आतापन वलि आदरी उष्णा तापे सार॥
चोविहार उपवास चित तदपि नहीं बहु तंत।
आतापन लेवन मतै तर वर तल तारंत॥

३—वही १-६-७

ये बुद्धिवान भारी फिर बुद्धि भणी उत्पातिया अधिकाय हो।
सतवादी व, जीव सैणा भणी निर्मल बतावी न्याय हो॥
तपस्या करी म्हे आतम तारसी अवर जीव नहीं और हो।
आप तणो ये तारो भवदने जाणो बुद्धि नो जोर हो॥

४—वही : ६ १

प्रगट मेवाड़ में पूज्य पधारिया मुनि आचारजी जोड़ हो।
अनुकम्पा दया दान रै ऊपरै जोड़ां करी घर कोड़ हो॥

साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविका चारों तीर्थ तेरापन्थ को आधार मानकर चलने लगे। सारा कार्य स्थिर भाव में परिणत हुआ तब आचार्य भिक्षु ने वि० १८३२ में संघ-व्यवस्था की ओर ध्यान दिया और पहला लेख-पत्र लिखा। इस प्रकार आचार-शुद्धि के अभियान की दृष्टि से तेरापन्थ का उदय वि० १८१७ में हुआ। प्रचार की दृष्टि से उसका उदय मुनि-युगल की प्रार्थना के साथ-साथ हुआ। उसका विस्तार ग्रन्थ-निर्माण के साथ-साथ हुआ और उसका संगठित रूप लेख-पत्र के साथ वि० १८३२ में हुआ।

"साधन बीज है और साध्य वृक्ष, इसलिए जो सम्बन्ध बीज और वृक्ष में है, वही सम्बन्ध साधन और साध्य में है।"[1] महात्मा गाँधी के इस विचार का उद्गम बहुत प्राचीन हो सकता है, किन्तु इसके विशाल प्रवाह आचार्य भिक्षु हैं।

आचार्य भिक्षु रहस्यमय पुरुष हैं। अनेक लोगों की धारणा है कि उन्होंने वैसा कहा है, जो पहले कभी नहीं कहा गया। उनके विचारों में विश्वास न रखने वाले कहते है—"उन्होंने ऐसी मिथ्या धारणाएँ फैलाई हैं जो सब धर्मों से निराली हैं।" उनके विचारों में विश्वास रखने वाले कहते हैं—"उन्होंने वह आलोक दिया है, जो धर्म का वास्तविक रूप है।" इसमें कोई सन्देह नहीं कि वे अलौकिक पुरुष हैं। उनका तत्त्व-ज्ञान और उनकी व्याख्याएँ अलौकिक हैं। लौकिक-पुरुष साध्य की ओर जितना ध्यान देते हैं, उतना साधन की ओर नहीं देते। धर्म इसलिए अलौकिक है कि उसमें साधन का उतना ही महत्त्व है, जितना कि साध्य का। आचार्य भिक्षु ने यह सूत्र प्रस्तुत किया—"अहिंसा के साधन उसके अनुकूल हों तभी उसकी आराधना की जा सकती है, अन्यथा वह हिंसा में परिणत हो जाती है।"

इस सूत्र ने लोगों को कुछ चौंकाया। किन्तु इसकी व्याख्या ने तो जन-मानस को आन्दोलित ही कर दिया। आचार्य भिक्षु ने कहा—

१—कई लोग कहते है—"जीवों को मारे विना धर्म नहीं होता। यदि मन के परिणाम अच्छे हों तो जीवों को मारने का पाप नहीं लगता।" पर जानबूझ कर जीवों को मारने वाले के मन का परिणाम अच्छा कैसे हो सकता है?[2]

१—हिन्द स्वराज्य पृ० २२०

२—व्रताव्रत १२ ३४-३८

केई कहें जीवां नें मारयां विनां, धर्म न हुवें ताम हो।
जीव मारयां रो पाप लागें नहीं, चोखा चाहीजे निज परिणांम हो॥
केई कहें जीव मारयां विना, मिश्र न हुवें छे तांम हो।
पिण जीव मारण री सामी करे, ले छे परिणांमां रो नाम हो॥

२—जहाँ दया है वहाँ 'जीव-वध किए बिना धर्म नहीं होता' यह सिद्धान्त मान्य नहीं हो सकता।

३—जीव-वध होता है यह जीव की दुर्बलता है किन्तु उसे धर्म का रूप देना कि 'हिंसा किए बिना धर्म नहीं होता' सिद्धान्त दोषपूर्ण है।

४—एक जीव को मार कर दूसरे जीव की रक्षा करना धर्म नहीं है। धर्म यह है कि अधर्मी को समझा-बुझा कर धर्मी बनाया जाए।[1]

५—जीवों को मार कर जीवों का पोषण करना लौकिक-मार्ग है। उसमें जो धर्म बताते हैं वे पूरे मूढ़ और अज्ञानी हैं।[2]

६—कई लोग कहते हैं—'दया लाकर जीवों को मारने में धर्म और पाप दोनों होते हैं।'[3] किन्तु पाप करने से धर्म नहीं होता और धर्म करने से पाप नहीं होता। एक करणी में दोनों नहीं हो सकते।[4]

७—पाप और धर्म की करणी भिन्न भिन्न है।[5]

केई धर्म में मिश्र बतावे भणी ए बाय रो करे कमठाण हो।
तिणरा खोटा परिणाम किहां लगे पर जीवां रा मूंढे छे प्राण हो॥
कोई जीव बचावे छे तेहनां खोटा कर्म छे परिणाम हो।
कहे धर्म में मिश्र हुवे नहीं जीव बचायां बिन ठाम हो॥
जीव खाण रा परिणाम छै अति बुरा बचावण रा पिण खोटा परिणाम हो।
भूली भोला ने न्हाखे भरम में ते ते परिणामां री खांम हो॥

१—अनुकम्पा ५.५।

चोर हिंसक ने कुशीलिया यांरे तांई रे दीधो साधां उपदेश।
त्यांने सावद्य रा निरवद कीया, एहवो छे ए जिन दया धर्म रेस॥

२—वही ६.२५।

जीवां ने मारे जीवां ने पोखे ते तो मारग संसार नो जाणो जी।
तिण मांहे साध धर्म बतावे ते पूरा छे मूढ़ अयाणो जी॥

३—मिश्र चौपई १ दुहा २

कहे दया आण ने जीव मारीयां हुवे छे धर्म ने पाप।
ए करम करे पंच आश्रवी भगवंत वचन उथाप॥

४—वही १ दुहा ३।

पाप कीयां धर्म न नीपजे, धर्म कीं पाप न होय।
एक करणी में दोय न नीपजे ए संका म आणो कोय॥

५—व्रताव्रत ११.१२।

मूल में पाप धर्म दोनूं जुई जुई, [illegible] लोकां में [illegible] रे।
[illegible] [illegible] [illegible] रा हूंता [illegible] तो [illegible] [illegible] रे॥

८—अव्रत का सेवन करना, कराना और अव्रत-सेवन का अनुमोदन करना पाप है।[1]

९—व्रत का सेवन करना, कराना और व्रत-सेवन का अनुमोदन करना धर्म है।

१० – सम्यग्-दृष्टि लौकिक और लोकोत्तर मार्ग को भिन्न-भिन्न मानता है।[2]

११—धर्म त्याग में है, भोग में नहीं।

१२—धर्म हृदय-परिवर्तन में है, बलात्कार में नही।

१३—असयति के जीने की इच्छा करना राग है।

१४ उसके मरने की इच्छा करना द्वेष है।

१५ – उसके सयति होने की इच्छा करना धर्म है।

ये सिद्धान्त नए नही थे। आचार्य भिक्षु ने कभी नही कहा कि मैंने कोई नया मार्ग ढूँढा है। उन्होंने यही कहा—"मैने भगवान् महावीर की वाणी को जनता के सम्मुख यथार्थरूप में प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है।" यह बहुत बडा सत्य है। दुनियाँ में नया तत्त्व कोई है भी नही। जो है वह पुराना है, बहुत पुराना है। नये का अर्थ है पुराने को प्रकाश में लाना। जो आलोक बनकर पुराने को प्रकाशित करता है, वही नव-निर्माता है। ससार के जितने भी नव-निर्माता हुए हैं, उन्होने यही किया है—आलोक बनकर प्राचीन को नवीन बनाया है। महात्मा गाँधी ने अपने अहिंसक प्रयोगों के सम्बन्ध में लिखा है—"मैं कोई नया सत्य प्रदर्शित नहीं करता। मैं बहुत से पुराने सत्यों पर नया प्रकाश डालने का दावा अवश्य करता हूँ।[3] मैंने पहला मौलिक सत्याग्रही होने का दावा कभी नहीं किया। जिसका मैंने दावा किया है, वह है उस सिद्धान्त का लगभग सार्वभौम पैमाने पर उपयोग।"[4]

पुराना सत्य जब नया बनकर आता है तब विभिन्न प्रकार की प्रतिक्रियाएँ होती हैं। आचार्य भिक्षु ने जिस सत्य को प्रकाशित किया, वह नया नहीं है, प्राचीन

१—निन्हव चौपई २५.

इविरत सेवायां सेवीयां भलो जांणीयां, तीनूंइ करणां पाप हो।
एहवो भगवत वचन उथाप नें, कीधीं छे मिश्र री थाप हो॥

२—अणुकम्पा ११ ५०

कहि कहि नें कितरोंएक कहू, संसार तणा उपगार अनेक।
ग्यांन दरसण चारित नें तप विनां, मोष तणों उपगार नहीं छे एक॥

३—यंग इण्डिया, भाग १, पृ० ५६७

४—वही भाग ३, पृ० ३६७

आचार्यों ने इसे प्रकाशित किया है। किन्तु यह गया इसलिए लगता है कि आचार्य भिक्षु ने जिस व्यवस्थित रूप से इसे सैद्धान्तिक रूप दिया है उस रूप में अन्य आचार्यों ने सैद्धान्तिक रूप नहीं दिया। यह स्पष्ट शब्दों में कहा जा सकता है कि किसी भी एक आचार्य ने ये सारी बातें नहीं कहीं। विकीर्ण रूप में देखें तो आचार्य धर्मदासगणी ने लिखा है—

"जो तप और नियम में सुस्थित हैं उनका जीना भी अच्छा है और मरना भी अच्छा है। वे जीवित रहकर गुणों का अर्जन करते हैं और मरकर सुगति को प्राप्त होते हैं।"[1]

"जो पाप-कर्म करने वाले हैं उनका जीना भी अच्छा नहीं है और मरना भी अच्छा नहीं है। वे जीवित रहकर वैर की वृद्धि करते हैं और मरकर अन्धकार में जा गिरते हैं।

आचार्य जिनसेन ने लिखा है—

"अर्थ और काम से सुख नहीं होता क्योंकि वे संसार को बढ़ाने वाले हैं। जो धर्म सावद्य की उत्पत्ति करता है उस धर्म से भी सुख नहीं होता। प्रधान सुख उससे होता है जो निःसावद्य धर्म है।"[2]

कुछ व्यक्ति कहते हैं—आचार्य भिक्षु ने धर्म को लौकिक और लोकोत्तर के भेदों में विभक्त कर जीवन के टुकड़े कर डाले। इस आरोप को हम अस्वीकार नहीं करते और साथ-साथ हम यह भी स्वीकार किए बिना नहीं रह सकते कि जीवन को टुकड़ों में बाँटे बिना कोई रह भी नहीं सकता। भगवान् महावीर ने निषेध-व्यवस्था में धर्म को लौकिक-लोकोत्तर भावों में विभक्त किया है।

महात्मा बुद्ध ने कहा—

"भिक्षुओ ये दो दान हैं।

"कौन से दो ?

१—उपदेशमाला श्लोक ४४३।
तवनियमसुट्ठियाणं कल्लाणं जीवियं पि मरणं पि।
जीवंतऽज्जंति गुणा मयाऽवि पुण सुग्गइं जंति॥

२—वही श्लोक ४४४।
अहियं मरणं अहियं जीवियं पावकम्मकारीणं।
तमसम्मि पडंति मया, वेरं वड्ढंति जीवंता॥

३—उत्तरपुराण पर्व ५१ १०–११।
न सावद्यार्थकामाभ्यां सुखं संसारवर्धनात्।
नासुखायापि मे धर्माद् यस्मात् सावद्यसम्भव॥
निःसावद्योऽस्ति धर्मोऽन्यस्तत्र सुखमनुत्तमम्।
इत्युक्त्वाविनिर्वीऽस्य विरक्त्वामवदत्॥

"भौतिक-दान तथा धर्म-दान।" "भिक्षुओ, ये दो दान हैं। भिक्षुओ, इन दोनों दानों में धर्म-दान श्रेष्ठ है।"[1]

"भिक्षुओ, ये दो सविभाग (वितरण) है।"

"कौन से दो?"

"भौतिक-सविभाग तथा धार्मिक-सविभाग।" "भिक्षुओ, ये दो सविभाग है। भिक्षुओ, इन दोनों सविभागो में धार्मिक-सविभाग श्रेष्ठ है।"[2]

"भिक्षुओ, ये दो सुख हैं।"

"कौन से दो?"

"लौकिक-सुख तया लोकोत्तर-सुख।" "भिक्षुओ, ये दो सुख है। भिक्षुओ, इन दोनों सुखों में लोकोत्तर-सुख श्रेष्ठ है।"

"भिक्षुओ, ये दो सुख है।"

"कौन से दो?"

"साश्रव-सुख तया अनाश्रव-सुख।"

"भिक्षुओ, ये दो सुख हैं।" "भिक्षुओ, इन दोनों सुखो में अनाश्रव-सुख श्रेष्ठ है।"

"भिक्षुओ, ये दो सुख हैं।"

"कौन से दो?"

"भौतिक-सुख तया अभौतिक-सुख।"

"भिक्षुओ, ये दो सुख हैं।" "भिक्षुओ, इन दोनो सुखो में अभौतिक-सुख श्रेष्ठ है।"[3]

आचार्य धर्मदासगणी का अभिमत है—"तीर्थंकर भगवान् बलात् हाथ पकडकर किसी को हित में प्रवृत्त और अहित से निवृत्त नही करते।[4] वे उपदेश देते हैं। उत्पथ पर चलने से होने वाले परिणामों का ज्ञान देते हैं। उसे जो सुनता है, वह मनुष्यों का नही, देवताओं का भी स्वामी होता है।"[5]

आचार्य भिक्षु ने जो कहा, वह उनके पश्चात् भी कहा गया है। महात्मा

१—अंगुत्तर निकाय प्रथम भाग, पृ० ९४

२—वही पृ० ९५

३—वही पृ० ८२

४—उपदेशमाला श्लोक ४४८

अरिहंता भगवंतो, अहियं व हियं व न वि इह किंचि।
वारंति कारवंति य, धित्तूण जणं बला हत्थे॥

५—वही श्लोक ४४९

उवएसं पुण तं दिंति, जेण चरिएण कित्तिनिलयाणं।
देवाण वि हुंति पहू, किमंग पुण मणुअमित्ताणं॥

गाँधी ने अहिंसा के ऐसे अनेक तथ्यों को प्रकाशित किया है, जिनका आचार्य भिक्षु के अभिमत से गहरा सम्बन्ध है। उन्होंने लिखा है—

१—यह यथार्थ है कि मैंने भावना को प्राधान्य दिया है। किन्तु अकेली भावना से अहिंसा सिद्ध नहीं हो सकती। यह सच है कि अहिंसा की परीक्षा अन्त में भावना से होती है। किन्तु यह भी उतना ही सच है कि कोरी भावना से ही अहिंसा न मानी जाएगी। भावना का माप भी कार्य पर से ही निकालना पड़ता है। और जहाँ स्वार्थ के वश होकर हिंसा की गई है वहाँ भावना चाहे कितनी ही ऊँची क्यों न हो तो भी स्वार्थमय हिंसा तो हिंसा ही रहेगी। इससे उल्टे जो आदमी मन में वैर भाव रखता है किन्तु लाचारी से उसे काम में नहीं ला सकता उसे वैरी के प्रति अहिंसक नहीं कहा जा सकता। क्योंकि उसकी भावना में वैर छिपा हुआ है। इसलिए अहिंसा का माप निकालने में भावना और कार्य दोनों की परीक्षा करनी होती है।[१]

२—धर्म संयम में है स्वच्छन्दता में नहीं। जो मनुष्य शास्त्र की दी हुई छूट से काम नहीं चलाता वह अपवाद का पात्र है। संयम की कोई मर्यादा नहीं।

संयम का स्वागत दुनियाँ के तमाम शास्त्र करते है। स्वच्छन्दता के विषय में शास्त्रों में भारी मतभेद है। समकोण सब जगह एक ही प्रकार का होता है। दूसरे कोण अगणित हैं। अहिंसा और सत्य—ये सब धर्मों के समकोण हैं। जो आचार इस कसौटी पर न उतरे वह त्याज्य है। इसमें किसी को शंका करने की आवश्यकता नहीं। अधूरे आचार की इजाजत चाहे हो। अहिंसा-धर्म का पालन करने वाला निरन्तर जागरूक रहकर अपने हृदय-बल को बढ़ावे और प्रास छूटों के क्षेत्र को संकुचित करता जाए। भोग हरगिज धर्म नहीं। संसार का अशमय त्याग ही मोक्ष प्राप्ति है।

३—कोई उससे यह अर्थ नहीं निकाल सकते कि गीताजी में हिंसा का ही प्रतिपादन किया गया है। यह अर्थ निकालना उतना ही अनुचित है जितना यह कहना कि शरीर-व्यापार के लिए कुछ हिंसा अनिवार्य है और इसलिये हिंसा ही धर्म है। सूक्ष्मदर्शी इन हिंसामय शरीर से अशरीरी होने का अर्थात् मोक्ष का ही धर्म सिखाता है।[२]

४—जिसे भय लगता है जो संग्रह करता है जो विषय में रत है वह

१—अहिंसा प्रथम भाग पृ ११५

२—वही पृ १२

३—वही पृ ४१-४२

अवश्य ही हिंसामय युद्ध करेगा। लेकिन उसका वह धर्म नहीं है। धर्म तो एक ही है। अहिंसा के मानी है मोक्ष और मोक्ष सत्यनारायण का साक्षात्कार है।[1]

५—सिद्धान्त को ढूँढने में कोई मुश्किल नहीं होती है। उसका केवल अमल करने में ही सभी मुश्किलें आ पडती हैं। इसलिए सिद्धान्त तो इस विषय में पूर्ण हैं। उनका अमल करने वाले हम मनुष्य अपूर्ण है। अपूर्ण के द्वारा पूर्ण का अमल होना अशक्य होने के कारण, प्रतिक्षण सिद्धान्त के उल्लघन की नई मर्यादा ठीक करनी पडती है। इससे हिन्दू-शास्त्र में कह दिया गया है कि यज्ञार्थ की हुई हिंसा, हिंसा नहीं होती। यह अपूर्ण सत्य है। हिंसा तो सभी समय हिंसा ही रहेगी और हिंसा-मात्र पाप है। किन्तु जो हिंसा अनिवार्य हो पडती है, उसे व्यवहार-शास्त्र पाप नही मानता। इसलिए यज्ञार्थ की गई हिंसा का व्यवहार-शास्त्र अनुमोदन करता है और उसे शुद्ध पुण्य-कर्म मानता है।[2]

६—लेकिन जिस प्रकार लौकिक राजा के कानून में अपराधी अज्ञान के कारण दण्ड से बचता नहीं है, वही हाल अलौकिक राजा के नियमों का भी है।[3]

७—मैं छोटे-से-छोटे सजीव प्राणी को मारने के उतना ही विरुद्ध हूँ, जितना लडाई के। किन्तु मैं निरन्तर ऐसे जीवों के प्राण इस आशा में लिए चला जाता हूँ कि किसी दिन मुझमें यह योग्यता आ जाएगी कि मुझे यह हत्या न करनी पडे। यह सब होते रहने पर भी अहिंसा का हिमायती होने का मेरा दावा सही होने के लिए यह परमावश्यक है कि मैं इसके लिए सचमुच में जी-जान से और अविराम प्रयत्न करता रहूँ। मोक्ष अथवा सशरीरी अस्तित्व की आवश्यकता से मुक्ति की कल्पना का आधार है, सपूर्णता को पहुँचे हुए पूर्ण अहिंसक स्त्री-पुरुषों की आवश्यकता। सम्पत्ति-मात्र के कारण कुछ न कुछ हिंसा करनी पडती है। शरीररूपी सम्पत्ति की रक्षा के लिए भी चाहे जितनी थोडी, किन्तु हिंसा करनी ही पडती है।[4]

श्रद्धा के आलोक में जो सत्य उपलब्ध होता है, वह बुद्धि या तर्क-वाद के आलोक में नहीं होता। महात्मा गाँधी के पास श्रद्धा का अमित बल था। वे ईश्वर के प्रति अत्यन्त श्रद्धाशील थे। उनका ईश्वर था सत्य। आचार्य भिक्षु भी भगवान् के प्रति श्रद्धालु थे। उनका भगवान् था सयम।

जो सत्य है वही सयम है और जो सयम है वही सत्य है।

१—अहिंसा, प्रथम भाग, पृ० ४२
२—वही पृ० ५३
३—वही पृ० ६१
४—वही पृ० ९८

भगवान् महावीर की भाषा में— "जो सम्यक है वही मौन है और जो मौन है वही सम्यक है।"[1] भगवान् महावीर संयम के प्रतीक थे। उन्होंने वही कार्य करने की आज्ञा दी जिसमें संयम था। उनकी आज्ञा और संयम में कोई भेद नहीं है। उनकी आज्ञा है वही संयम है और जो संयम है वही उनकी आज्ञा है।

धर्मसंग्रहणी में लिखा है— "भगवान् की आज्ञा से ही चारित्र की आराधना की जाती है। उसका भंग करने पर क्या भग्न नहीं होता? जो आज्ञा का अतिक्रमण करता है वह शेष कार्य किसकी आज्ञा से करेगा?"[2]

आचार्य भिक्षु ने आज्ञा को व्यावहारिक रूप दिया। उनके संगठन का केन्द्र बिन्दु आज्ञा है। उनकी भाषा में आज्ञा की आराधना संयम की आराधना है और उसकी विराधना संयम की विराधना है। उनका संगठन विश्व के सभी संगठनों से शक्तिशाली है। उसका शक्ति-स्रोत है आचार। आचार्य भिक्षु के शब्दों में भगवान् महावीर की आज्ञा का सार है—आचार। आचार शुद्ध होता है तो विचार स्वयं शुद्ध हो जाते हैं। विचारों में आग्रह या अपवित्रता तभी आती है जब आचार शुद्ध नहीं होता।

"आचारवान् से मिलो अनाचारी से दूर रहो" —आचार्य भिक्षु के इस घोष ने संगठन को सुदृढ़ बना दिया।

'श्रद्धा या मान्यता मिले तो साथ रहो जिनसे वह न मिले उन्हें साथ रखकर संगठन को दुर्बल मत बनाओ' —आचार्य भिक्षु के इस सूत्र ने संगठन को प्राणवान् बना दिया। एक ध्येय एक विचार, एक आचार और एक आचार्य—यह है संक्षेप में उनके संगठन का आन्तरिक स्वरूप।

आचार्य भिक्षु ने इसकी धारा यार दिखाई कि—

१—साधुओं का साध्य है आत्म-शुद्धि अर्थात् पूर्ण पवित्रता की उपलब्धि।

२—उसकी साधना है अहिंसा जो स्वयं पवित्र है।

३—उसका साधन है आत्मानुशासन जो स्वयं पवित्र है।

यह साध्य साधना और साधन की पवित्रता साधु-समाज का मेरुदण्ड रहा है। इसमें कोई बाधा उत्पन्न न हो इसलिए आचार्य भिक्षु ने उस संगठन का

१—आचारांग ५.३ :

जं सम्मंति पासहा तं मोणंति पासहा जं मोणंति पासहा तं सम्मंति पासहा।

२ उपदेशमाला श्लोक ५ ५ :

आणाए च्चिय चरणं, तब्भंगे जाण किं न भग्गं ति।

आणं च अइक्कंतो कस्साएसा कुणइ सेसं॥

मान किया। चारित्र विशुद्ध रहे, साधु शिष्यों के लोलुप न बनें और परस्पर ढ प्रेम रहे—यही है उनकी संघ-व्यवस्था का उद्देश्य।[1]

संगठन अच्छा भी होता है और बुरा भी। शक्ति का स्रोत होने के कारण अच्छा होता है। उसमें साधना की गति अबाध नहीं रहती, इसलिए वह रा भी होता है। साधना कुण्ठित वहाँ होती है, जहाँ अनुशासन आरोपित ता है। आत्मानुशासन से चलने वाला संगठन साधना में कुण्ठा नहीं लाता।

आचार्य भिक्षु का संगठन केवल शक्ति-प्राप्ति के लिए नहीं है। वह आचार-द्धि के लिए है। आचार्य भिक्षु की दृष्टि में आचार की भित्ति पर अवस्थित गठन का महत्त्व है। उससे विहीन संगठन का धार्मिक-मूल्य नहीं है।

आचार्य भिक्षु के अनेक रूप हैं। उनमें उनके दो रूप बहुत ही स्पष्ट और भावशाली हैं—

१—विचार और चारित्र-शुद्धि के प्रवर्तक

२—संघ-व्यवस्थापक

प्रस्तुत ग्रन्थ में इन्हीं दो रूपों की स्पष्ट-अस्पष्ट रेखाएँ हैं। इस कार्य में मुनि मिलापचन्दजी, सुमेरमलजी, हीरालालजी, श्रीचन्दजी और दुलहराजजी सहयोगी रहे हैं। मैंने केवल लिखा और शेष कार्य उन्हीं का है। आचार्य श्री तुलसी की प्रेरणा या आशीर्वाद ही नहीं, उनके अन्तःकरण की कामना भी मुझे आलोकित कर रही थी। 'तेरापन्थ-द्विशताब्दी-समारोह' पर उसके प्रवर्तक का परम यशस्वी और तेजस्वी रूप रेखाङ्कित हो, यह आचार्य श्री की तीव्र मनोभावना थी। यह मेरा सौभाग्य है कि उसकी सफलता का निमित्त बनने का श्रेय मुझे दिया। आचार्य श्री की भावना और मेरे शब्दों से निर्मित आचार्य भिक्षु की जीवन-रेखाएँ पथिकों के लिए प्रकाश-स्तम्भ बनें।

२०१६ मार्गशीर्ष वदि ३
श्रीरामपुर
(रामपुरिया कॉटन मिल)

मुनि नथमल

[1]—लिखित १८३२

विषय-सूची

अध्याय ७ : अनुभूतियों के महान् स्रोत

———

भिक्षु-विचार दर्शन

अध्याय : १

व्यक्तित्व की झाँकी

जैन-परम्परा मे आचार्य भिक्षु का उदय एक नये आलोक की सृष्टि है। वे (वि० १७८३) इस ससार मे आए, (वि० १८०८) स्थानकवासी मुनि बने, (वि० १८१७) तेरापन्थ का प्रवर्तन किया और (वि० १८६०) इस ससार से चले गये।

उनका जीवन तीन प्रकार की विशिष्ट अनुभूतियो का पुञ्ज है। मारवाड की शुष्क-भूमि में उनका मस्तिष्क कल्पतरु बन फल सका, यही उनकी अपनी विशेषता है। वे विद्यालय के छात्र नही बने, विद्या ने स्वय उनका वरण किया। वे काव्य-कला के ग्राहक नही बने, कविता ने स्वय उनके चरण चूमे। वे कल्पना के पीछे नही दौडे, कल्पना ने स्वय उनका अनुगमन किया।

मैं श्लाघा के शब्दों में उनके जीवन को ससीम बनाना नही चाहता। मैं चाहता हूँ कि उनके असीम व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति उनके विचारों से ही हो। मेरे पाठक, उनको केवल जैन-आचार्य की भूमिका में ही नही पढ पायेंगे, मैं उन्हें अनेक भूमिकाओ के मध्य में से लेता चलूँगा, चढाव-उतार के लिये सन्तुलन उन्हें रखना होगा।

: १ : समय की सूझ

व्यक्ति में सबसे बडा बल श्रद्धा का होता है। श्रद्धा टूटती है तो पैर थम जाते हैं, वाणी रुक जाती है और शरीर जड हो जाता है। श्रद्धा बनती है तो ये सब गतिशील बन जाते हैं।

एक ठाकुर साहब और भीखणजी मार्ग में साथ-साथ जा रहे थे। ठाकुर साहब को तम्बाकू का व्यसन था। बीच में ही तम्बाकू निवट गई। उनके पैर लडखडाने लगे। भीखणजी! तम्बाकू के बिना चलना बडा कठिन हो रहा है।

जिसके जीवन में श्रद्धा और बुद्धि का समन्वय हो उसकी गति साध्य की दिशा में होती है, इसलिए उसे पूर्ण कहा जा सकता है। आचार्य भिक्षु का जीवन श्रद्धा और बुद्धि के समन्वय का सुन्दर उदाहरण है।

भीखणजी का विवाह हो चुका था। एक बार वे ससुराल गये। भोजन का समय हुआ। खाने की थालियाँ परोसी गई। खाना शुरू नहीं हुआ उसके पहले ही गालियाँ गाई जाने लगीं। दामाद ससुर के घर जब खाना खाता है तब स्त्रियाँ उसे गालियों के गीत सुनाती हैं, यह मारवाड की चिर-प्रचलित प्रथा है। कुल-वधुओं ने गाया-"ओ कुण कालो जी कावरों"। भीखणजी का साला लगडा था। उन्होंने व्यग की भाषा में कहा—जहाँ अन्धे और लगडे को अच्छा और अच्छों को अन्धा और लगडा बताया जाता है, वहाँ का भोजन किया जाय? थाली परोसी ही रही, भीखणजी बिना कुछ खाये उठ खडे हुए। रूढिवाद उन्हें अपने बाहुपाश मे जकड नहीं सका।[१]

४ · अन्धविश्वास का मर्मोद्घाटन

दूसरे प्रान्तो में 'मारवाडी' का अर्थ है राजस्थानी। किन्तु राजस्थान में 'मारवाडी' का अर्थ जोधपुर राज्य का वासी है। इस राज्य के एक प्रदेश का नाम काठा है। वहाँ एक छोटा सा कस्बा है कंटालिया। वहाँ किसी के घर चोरी हो गई। चोर का पता नही चला, तब उसने बोर नदी से एक कुम्हार को बुला भेजा। वह अन्धा था। फिर भी चोरी का भेद जानने के लिए लोग उसे बुलाते थे। 'उसके मुँह से देवता बोलता है', इस रूप में उसने प्रसिद्धि पाली थी। कुम्हार आया और भीखणजी से पूछा—चोरी का सन्देह किस पर है? भीखणजी इसकी ठग-विद्या की अन्वेष्टि करना चाहते ही थे। इस अवसर का लाभ उठाकर उन्होंने कहा –भाई! सन्देह तो 'मजने' पर है। रात गई और कुम्हार अखाडे में आया। लोग इकट्ठे हो गये। उसने देवता को अपने शरीर में बुलाया। शरीर काँप उठा। 'डाल दे, डाल दे' कहकर वह चिल्लाया। उसकी चिल्ल-पों से वातावरण में एक प्रतीक्षा का भाव भर गया, पर चोरी के धन को लौटाने कोई नहीं आया। तब 'नाम प्रकट करो, नाम प्रकट करो' की आवाजें आने लगी। कुम्हार का देवता बोल उठा—"गहना 'मजने ने चुराया है,' 'मजने ने चुराया है', 'मजने ने चुराया है'। वहाँ एक अतीत बैठा था। उसने अपने डण्डे को आकाश में घुमाते हुए कहा—'मजना मेरे बकरे का नाम है, उस पर झूठा आरोप लगाता है! इसबार उसका नाम लिया तो फिर लोग कुछ और ही देखेंगे।' उसकी ठग-विद्या की कलई खुल गई। लोग उसे कोसने लगे।

१—भिक्खु दृष्टान्त १०५, पृष्ठ ४५

तुम्हें यहीं रुकना पड़ेगा—ठाकुर साहब ने कहा। भीखणजी ने सोचा आगे दूर जाना है। साथी को जंगल में अकेले छोड़ना भी उचित नहीं। तम्बाकू के बिना ये चल नहीं सकेंगे। भीखणजी ने कहा—ठाकुर साहब धीमे-धीमे चलिए दिन थोड़ा है। मैं तम्बाकू की खोज करता हूँ कहीं आस-पास में किसी पथिक के पास मिल जाए। ठाकुर साहब को थोड़ा साहस बंधा। वे धीमे-धीमे आगे चले। भीखणजी पीछे रह गये। उन्होंने एक कच्चा लिया और उसकी बुकनी की पुड़िया ठाकुर साहब के हाथ थमा दी। ठाकुर साहब जम्हाइयाँ ले ही रहे थे। उस पुड़िया को खोलते ही खिल उठे। भीखणजी ने कहा—अच्छी तो है नहीं ऐसी है पर काम चल जाएगा। ठाकुर साहब ने थोड़ी सी—चुटकी भर सूँघी और सहसा बोल उठे—भीखणजी! अच्छी ही है। ठाकुर साहब की गति में वेग आ गया। मार्ग कटता गया। वे दिन रहते रहते अपने घर पहुँच गये।[1]

२ श्रद्धा और बुद्धि का समन्वय

मारवाड़ का यह वातावरण थोड़े ही समय के बाद धर्मदूत बन गया। जोधपुर के राजा विजयसिंहजी के मंत्री आचार्य भिक्षु के पास आये। विश्व सादि-सान्त है या अनादि-अनन्त यह प्रश्न पूछा। आचार्य भिक्षु ने उन्हें इसका समाधान दिया। सतोषजनक समाधान पाकर मन्त्री ने कहा—आपकी बुद्धि कई राज्यों का सचालन करे वैसी है। मंत्री की इस प्रशंसा का उत्तर आचार्य भिक्षु ने एक पद्य में दिया जो इस प्रकार है

> बुद्धि तिणां री जाणीये जे सेवे जिन धर्म।
> और बुद्धि किण काम री सो पड़िया बांधे कर्म॥

वही बुद्धि सराहने योग्य है जो धर्म के आचरण में लगे मुक्ति का मार्ग ढूंढे। वह बुद्धि व्यर्थ है जिससे बन्धन बढ़े।

सन्त की अमर वाणी आज के बुद्धिवाद को चुनौती दे रही है।[2]

३ रूढ़िवाद पर प्रहार

कहीं श्रद्धा होती है, बुद्धि नहीं होती कहीं बुद्धि होती है श्रद्धा नहीं होती। कहते हैं श्रद्धा अन्धी होती है बुद्धि लगड़ी। श्रद्धालु चलता है और बुद्धिमान् देखता है। ये दोनों अधूरे हैं। पूर्णता इनके समन्वय से आती है। साधक अपने आपको पूर्ण नहीं मानता वह सिद्ध होने पर ही पूर्ण होता है। पर

१—भिक्खु-दृष्टान्त। १११ पृष्ठ ४७
२—वही । ११२, पृष्ठ ४७

जिसके जीवन में श्रद्धा और बुद्धि का समन्वय हो उसकी गति साध्य की दिशा में होती है, इसलिए उसे पूर्ण कहा जा सकता है। आचार्य भिक्षु का जीवन श्रद्धा और बुद्धि के समन्वय का सुन्दर उदाहरण है।

भीखणजी का विवाह हो चुका था। एक बार वे ससुराल गये। भोजन का समय हुआ। खाने की थालियाँ परोसी गईं। खाना शुरु नहीं हुआ उसके पहले ही गालियाँ गाई जाने लगीं। दामाद ससुर के घर जब खाना खाता है तब स्त्रियाँ उसे गालियों के गीत सुनाती हैं, यह मारवाड की चिर-प्रचलित प्रथा है। कुल-वधुओं ने गाया-"ओ कुण कालो जी कावरो"। भीखणजी का साला लगडा था। उन्होंने व्यंग की भाषा में कहा —जहाँ अन्धे और लगडे को अच्छा और अच्छों को अन्धा और लगडा बताया जाता है, वहाँ का भोजन किया जाय ? थाली परोसी ही रही, भीखणजी बिना कुछ खाये उठ खडे हुए। रूढिवाद उन्हें अपने बाहुपाश में जकड नहीं सका।[1]

:४ अन्धविश्वास का मर्मोद्घाटन

दूसरे प्रान्तों में 'मारवाडी' का अर्थ है राजस्थानी। किन्तु राजस्थान में 'मारवाडी' का अर्थ जोधपुर राज्य का वासी है। इस राज्य के एक प्रदेश का नाम काठा है। वहाँ एक छोटा सा कस्बा है कटालिया। वहाँ किसी के घर चोरी हो गई। चोर का पता नहीं चला, तब उसने बोर नदी से एक कुम्हार को बुला भेजा। वह अन्धा था। फिर भी चोरी का भेद जानने के लिए लोग उसे बुलाते थे। 'उसके मुँह से देवता बोलता है', इस रूप में उसने प्रसिद्धि पाली थी। कुम्हार आया और भीखणजी से पूछा—चोरी का सन्देह किस पर है ? भीखणजी इसकी ठग-विद्या की अन्त्येष्टि करना चाहते ही थे। इस अवसर का लाभ उठाकर उन्होंने कहा -भाई ! सन्देह तो 'मजने' पर है। रात गई और कुम्हार अखाडे में आया। लोग इकट्ठे हो गये। उसने देवता को अपने शरीर में बुलाया। शरीर काँप उठा। 'डाल दे, डाल दे' कहकर वह चिल्लाया। उसकी चिल्ल-पों से वातावरण में एक प्रतीक्षा का भाव भर गया, पर चोरी के धन को लौटाने कोई नहीं आया। तब 'नाम प्रकट करो, नाम प्रकट करो' की आवाजें आने लगीं। कुम्हार का देवता बोल उठा—"गहना 'मजने ने चुराया है,' 'मजने ने चुराया है', 'मजने ने चुराया है'। वहाँ एक अतीत बैठा था। उसने अपने डण्डे को आकाश में घुमाते हुए कहा —'मजना मेरे बकरे का नाम है, उस पर झूठा आरोप लगाता है ! इसबार उसका नाम लिया तो फिर लोग कुछ और ही देखेंगे।' उसकी ठग-विद्या की कलई खुल गई। लोग उसे कोसने लगे।

१—भिक्खु दृष्टान्त १०५, पृष्ठ ४५

तुम्हें नहीं लगना पड़ेगा—ठाकुर साहब ने कहा। भीखणजी ने सोचा आगे दूर जाना है। साथी को जंगल में अकेले छोड़ना भी उचित नहीं। तम्बाकू के बिना ये चल नहीं सकेंगे। भीखणजी ने कहा—ठाकुर साहब धीमे-धीमे चलिए दिन थोड़ा है। मैं तम्बाकू की खोज करता हूं कहीं आस-पास में किसी पथिक के पास मिल जाए। ठाकुर साहब को थोड़ा साहस बंधा। वे धीमे-धीमे आगे चले। भीखणजी पीछे रह गये। उन्होंने एक कण्डा लिया और उसकी चूर्णी की पुड़िया ठाकुर साहब के हाथ थमा दी। ठाकुर साहब जम्हाइयाँ ले ही रहे थे। उस पुड़िया को खोलते ही खिल उठे। भीखणजी ने कहा—अच्छी तो है नहीं ऐसी है पर काम चल जाएगा। ठाकुर साहब ने थोड़ी सी—चुटकी भर सूंघी और सहसा बोल उठे—भीखणजी! अच्छी ही है। ठाकुर साहब की गति में वेग आ गया। मार्ग कटता गया। वे दिन रहते रहते अपने घर पहुँच गये।[1]

२ : श्रद्धा और बुद्धि का समन्वय

मारवाड़ का वह वातावरण थोड़े ही समय के बाद धर्मकृत बन गया। जोधपुर के राजा विजयसिंहजी के मंत्री आचार्य भिक्षु के पास आये। जिन सादि-सान्त है या अनादि-अनन्त यह प्रश्न पूछा। आचार्य भिक्षु ने उन्हें इसका समाधान दिया। संतोषजनक समाधान पाकर मन्त्री ने कहा—आपकी बुद्धि कई राज्यों का संचालन करे वैसी है। मंत्री की इस प्रशंसा का उत्तर आचार्य भिक्षु ने एक पद्य में दिया जो इस प्रकार है

> बुद्धि तिणां री बाजीमै जे सेवै जिन-धर्म।
> और बुद्धि किण काम री सो पड़िया बांधे कर्म॥

वही बुद्धि सराहने योग्य है जो धर्म के आचरण में लगे मुक्ति का मार्ग ढूंढे। वह बुद्धि व्यर्थ है जिससे बन्धन बढ़े।

सन्त की अमर वाणी आज के बुद्धिवाद को चुनौती दे रही है।

३ रूढ़िवाद पर प्रहार

जहाँ श्रद्धा होती है बुद्धि नहीं होती जहाँ बुद्धि होती है, श्रद्धा नहीं होती। कहते हैं श्रद्धा अन्धी होती है बुद्धि लंगड़ी। श्रद्धालु चलता है और बुद्धिमान् देखता है। ये दोनों अधूरे हैं। पूर्णता इनके समन्वय से आती है। साधक अपने आपको पूर्ण नहीं मानता वह सिद्ध होने पर ही पूर्ण होता है। पर

१—भिक्खु-दृष्टान्त : १११ पृष्ठ ४७
२—वही : ११२, पृष्ठ ४७

है, तो मैं तुम्हें वधाई दूँगा, नही तो नही। वैद्य ने पूछा—तुझे दीखता है या नहीं? रोगी ने कहा—मुझे भले ही दीखे, पर जब पच कह देंगे कि तुझे दीखता है, वधाई तव ही मिलेगी।[1]

आचार्य भिक्षु ने इस उदाहरण के द्वारा अन्धानुसरण करनेवालो व दूसरो पर ही निर्भर रहनेवालों का चित्र ही नही खींचा, उन्होने उनकी पूरी खबर भी ली।

उनकी विचारधारा स्वतत्र थी। उन्होने अनेक धर्माचार्यो को परखा। आखिर स्थानकवासी सम्प्रदाय के आचार्य रुघनाथजी के शिष्य बने। आठ वर्ष तक उनके सम्प्रदाय मे रहे। उनकी परीक्षा-पटु बुद्धि को वहाँ भी सन्तोष नही मिला। वे मुक्त होकर चल पडे। ज्ञानवान् व्यक्ति केन्द्र होता है। उसके आस-पास समाज स्वय वन जाता है। आचार्य भिक्षु की अनुभूतियो के आलोक में तेरापथ नामक गण का प्रारम्भ हो गया।

: ७ : मोह के उस पार

बुआ ने कहा—भीखण! तू दीक्षा लेगा तो मैं पेट में कटारी खाकर मर जाऊँगी।

आपने कहा—कटारी पूनी नहीं है, जिसे पेट में खाया जाय।[2]

बुआ को मोह से उवारा, वे उसके मोह में नही फँसे।

भीखणजी के पिता, शाह बलूजी इस ससार से चल वसे। माता दीपा बाई उन्हें दीक्षा लेने की अनुमति नही दे रही थी। आचार्य रुघनाथजी ने दीपा बाई को समझाया। वहुत चर्चा के वाद उनकी अन्तरात्मा बोल उठी—मैंने सिह का सपना देखा, जव यह मेरे गर्भ में था। यह राजा होगा। मैं इसे मुनि होने की अनुमति कैसे दे सकती हूँ? आचार्य ने कहा—मुनि राजा से वहुत वडा होता है। तेरा पुत्र मुनि—सिंह वने, इसमें तुझे क्या आपत्ति है? आचार्य की वात दीपा वाई के गले उत्तर गई और भीखणजी रुघनाथजी के शिष्य वन गये।

: ८ : विश्वास विफल नहीं होता

राजनगर मेवाड का प्रसिद्ध कस्वा है। उसकी प्रसिद्धि का कारण 'राज समद' है। यह बाँध वहुत वडा नहीं है तो वहुत छोटा भी नहीं है। इसकी अपनी विशेषता है पाल। दुर्ग जैसे अनेक प्राकारों से घिरा होता है वैसे ही उस बाँध का जल अनेक सेतुओं से घिरा हुआ है। "नौचौकियाँ" वास्तु-कला का निदर्शन है। जल की किल्लोलें भीतों से टकराती हैं वैसे ही दर्शक के मन से प्रमोद टकराने लग जाता है।

१—भिक्खु-दृष्टान्त : ८० पृष्ठ ३२
२—वही २४०, पृष्ठ ९६

भीखणजी ने कहा—इसे कोसने की क्या जरूरत है। मूर्ख तुम हो। चोरी आँखवालों के घर हुई है और उसका पता लगाने को तुम अन्धे को बुलाते हो भला कैसे आयेगा ?[1]

इस विद्या का मर्मोद्घाटन करना भीखणजी का जीवन-क्रम था। इसका आदि और अन्त नहीं है। जीवन का क्रम सदा जीवन के साथ चलता है।

५ अदम्य उत्साह

धर्म का क्षेत्र भी इस विद्या से अछूता नहीं था। बहुत सारे लोग साधु बनकर भी साधुता को नहीं निभाते थे। वे कलिकाल का नाम ले लोगों को भरमाते थे। पाँचवाँ आरा है अभी पूरा साधुपन पाला नहीं जा सकता इसकी ओट में बहुत सी बुराइयाँ पनपती थीं। आचार्य भिक्षु ने कहा—उधार साहूकार भी लेता है और दिवालिया भी लेता है। अब दोनों कहते हैं—महाजन जब माँगेगा तभी उसका रुपया लौटा दिया जायेगा। परन्तु साहूकार और दिवालिये की पहचान माँगने पर होती है। जो साहूकार होता है वह ब्याजसहित मूल धन दे देता है। जो दिवालिया होता है वह मूल पूँजी भी नहीं देता। भगवान् ने जो कहा उसका पालन करनेवाला साधु है और पाँचवें आरे का नाम लेकर भगवान् की वाणी का उल्लंघन करनेवाला असाधु है।[2]

आचार्य भिक्षु के गुरु आचार्य रुघनाथजी थे। उन्होंने कहा—'भीखणजी अभी पाँचवाँ आरा है इस काल में कोई भी दो घड़ी का साधुपन पाल ले तो वह सर्वज्ञ हो जाये। आचार्य भिक्षु ने कहा—यदि दो घड़ी में ही सर्वज्ञता प्राप्त होती है तो इतने समय तक तो मैं श्वास बन्द कर भी रह जाऊँ।[3]

सदाचार उसी के पीछे चलता है जो देश काल और परिस्थिति के सामने नहीं झुकता।

६ स्वतन्त्र चिन्तन

एक वैद्य ने आँख के रोगी की चिकित्सा शुरू की। कुछ दिन बीते। आँख ठीक हो गई। वैद्य ने बधाई माँगी। रोगी ने कहा—मैं पंचों से पूछूँगा। वे कहेंगे—तेरी आँखें ठीक हो गई हैं मुझे दिखाई देने लगा

१—भिक्खु दृष्टान्त : १ ६ पृष्ठ ४५
२—वही : ७६ पृष्ठ ३१ ३२
३—वही १ ८ पृष्ठ ४६

आया। आपने साधुओ को जगाया और कहा—प्रतिक्रमण करो। साधुओं ने पूछा—आपकी नींद कब खुली? आपने कहा—कोई सोया भी तो हो।[1]

सोने के लिये जागनेवाले बहुत होते हैं, पर जागरण के लिये जागनेवाले विरले ही होते हैं।

: ११ : आचार-निष्ठा

ससार में सब एकरूप नहीं होता। कुछ लेने का होता है, कुछ छोडने का। जानने का सब होता है। जो छोडने का हो उसी को छोडा जाए, शेष को नही। जीवन की सफलता का यह एक सत्य है।

एक बहन आई और आचार्य भिक्षु को भिक्षा लेने की प्रार्थना कर चली गई। यह काम कई दिनों तक चलता रहा। एक दिन भिक्षु भिक्षा लेने उसके घर गये। आपने पूछा—तू भिक्षा देने के बाद हाथ ठडे जल से धोएगी या गर्म से?

बहन—गर्म से।

आचार्य भिक्षु—कहाँ धोएगी?

बहन—इस नाली में।

आचार्य—वह जल कहाँ जाएगा?

बहन—नीचे।

आचार्य—इससे तो अनेक जीव मर सकते है या मर जायेंगे। इसलिए मैं तुम्हारे हाथ से भिक्षा नही ले सकता।

बहन—आप भिक्षा ले लें। मैं हाथ कैसे और कहाँ धोऊँगी, इसकी चिंता क्यों करते हैं? मैं भिक्षा देकर हाथ धोती हूँ, उसे भला कैसे छोडूँगी?

आचार्य—तो रोटी के लिए मैं अपना आचार क्यों तोडूँगा?[2]

एक आत्मस्थ व्यक्ति को जो आनन्दानुभूति आचारनिष्ठ रहने में होती है, वह रोटी जुटाने में नहीं होती। आचार के लिए रोटी को ठुकराने में जो पुरुषार्थ है, वह रोटी के लिए आचार को ठुकराने में समाप्त हो जाता है।

१२ : व्यक्तिगत आलोचना से दूर

आलोचना दोष की होनी चाहिए और प्रशसा गुण की। किसी व्यक्ति की आलोचना करनेवाला अपने लिए खतरा उत्पन्न करता है, आलोच्य के लिये वह न भी हो। प्रशसा करनेवाला प्रशस्य व्यक्ति के लिये खतरा उत्पन्न करता है। आचार्य भिक्षु ने बहुत आलोचना की। उनकी हर आलोचना

१—भिक्खु दृष्टान्त : ५३, पृष्ठ २३
२—वही ३२, पृष्ठ १५

राजनगर सन्त भीखणजी का बोधि-क्षेत्र है। यहाँ उन्हें नया आलोक मिला और आलोकमय पथ पर चलने की क्षमता मिली।

"राजनगर के श्रावकों ने विद्रोह कर दिया। वे मुनियों को वन्दना नहीं करते। उन्हें समझाने के लिए तुम जाओ' — रघुनाथजी ने सन्त भीखणजी को आदेश दिया। वे अपने चार सहयोगी मुनियों के साथ राजनगर की ओर चले। चातुर्मास प्रारम्भ हुआ। सन्त भीखणजी ने श्रावकों को सुना। श्रावक उनकी श्रद्धा बुद्धि और वैराग्य पर विश्वास करते थे। इसलिए उन्होंने जो कहा उस पर तर्क को आगे नहीं बढ़ाया। विश्वास विफल नहीं होता। श्रावकों की बात सन्त भीखणजी ने सिर पर ओढ़ ली थी। उन्होंने मन-ही-मन सोचा—क्या हम लोग आचार शिथिल नहीं हैं? कलिकाल की दुहाई देकर क्या हम महाव्रतों की पग-पग अवहेलना नहीं करते? उनको ज्वर-ज्वार हो गया और उस दशा में उनके संकल्प ने नया मार्ग ढूँढ लिया। श्रावकों का विश्वास विफल नहीं हुआ।

९ : आलोचना

कड़वी दवा भी लोग पीते हैं और वैद्य पिलाते हैं। दवा कड़वी है यह दोष नहीं है। दवा की कसौटी रोग मिटाने की क्षमता से की जाती है कड़वापन या मिठास से नहीं।

'आपके प्रयोग बहुत कड़वे हैं'—"एक व्यक्ति ने कहा। आचार्य भिक्षु ने मुस्कराते हुए उत्तर दिया—"गम्भीर वात का रोग है। वह सुहलाने से कैसे मिटे? उसे मिटाने के लिए दुःख का ही डाम देना होता है।

आचार्य भिक्षु ने आचार की शिथिलता और विचारों के धुंधलेपन पर गहरा प्रहार किया। उनकी भाषा कठोर है नुकीली है और है चुभनेवाली पर उसमें आत्मा की आवाज है वेदना की अभिव्यक्ति है अन्तर और भीतर की एकता है।

१० : जागरण

राजस्थान में ब्याह आदि कुछ प्रसंगों पर रात्रि-जागरण—रातीजोगे की प्रथा है। आचार्य भिक्षु ने रूपान्तर में इस प्रथा को निभा ही लिया।[1] पाली की घटना है। रात को व्याख्यान दिया। पूरा हुआ लोग चले गए। आप चौकी पर बैठे थे। दो आदमी खड़े-खड़े चर्चा करते रहे। आप उन्हें उत्तर देते रहे। और साधु सो रहे थे। रात का पिछला प्रहर

१—भिक्षु-दृष्टान्त : ६१ पृष्ठ २८

आया। आपने साधुओं को जगाया और कहा—प्रतिक्रमण करो। साधुओं ने पूछा—आपकी नींद कब खुली? आपने कहा—कोई सोया भी तो हो।[1]

सोने के लिये जागनेवाले बहुत होते हैं, पर जागरण के लिये जागनेवाले विरले ही होते है।

: ११ : आचार-निष्ठा

ससार में सब एकरूप नहीं होता। कुछ लेने का होता है, कुछ छोडने का। जानने का सब होता है। जो छोडने का हो उसी को छोडा जाए, शेष को नही। जीवन की सफलता का यह एक मन्त्र है।

एक बहन आई और आचार्य भिक्षु को भिक्षा लेने की प्रार्थना कर चली गई। यह काम कई दिनों तक चलता रहा। एक दिन भिक्षु भिक्षा लेने उसके घर गये। आपने पूछा—तू भिक्षा देने के बाद हाथ ठडे जल से धोएगी या गर्म से?

बहन—गर्म से।

आचार्य भिक्षु—कहाँ धोएगी?

बहन—इस नाली में।

आचार्य—वह जल कहाँ जाएगा?

बहन—नीचे।

आचार्य—इससे तो अनेक जीव मर सकते हैं या मर जायेंगे। इसलिए मैं तुम्हारे हाथ से भिक्षा नहीं ले सकता।

बहन—आप भिक्षा ले लें। मैं हाथ कैसे और कहाँ धोऊँगी, इसकी चिंता क्यों करते हैं? मैं भिक्षा देकर हाथ धोती हूँ, उसे भला कैसे छोड़ूँगी?

आचार्य—तो रोटी के लिए मैं अपना आचार क्यों तोड़ूँगा?[2]

एक आत्मस्थ व्यक्ति को जो आनन्दानुभूति आचारनिष्ठ रहने में होती है, वह रोटी जुटाने में नहीं होती। आचार के लिए रोटी को ठुकराने में जो पुरुषार्थ है, वह रोटी के लिए आचार को ठुकराने में समाप्त हो जाता है।

१२ : व्यक्तिगत आलोचना से दूर

आलोचना दोष की होनी चाहिए और प्रशसा गुण की। किसी व्यक्ति की आलोचना करनेवाला अपने लिए खतरा उत्पन्न करता है, आलोच्य के लिये वह न भी हो। प्रशसा करनेवाला प्रशस्य व्यक्ति के लिये खतरा उत्पन्न करता है। आचार्य भिक्षु ने बहुत आलोचना की। उनकी हर आलोचना

१—भिक्खु दृष्टान्त . ५३, पृष्ठ २३
२—वही ३२, पृष्ठ १५

राजनगर सन्त भीखणजी का बोधि-क्षेत्र है। यहाँ उन्हें नया आलोक मिला और आलोकमय पथ पर चलने की क्षमता मिली।

“राजनगर के श्रावकों ने विद्रोह कर दिया। वे मुनियों को वन्दना नहीं करते। उन्हें समझाने के लिए तुम जाओ” — रघुनाथजी ने सन्त भीखणजी को आदेश दिया। वे अपने चार सहयोगी मुनियों के साथ राजनगर की ओर चले। चातुर्मास प्रारम्भ हुआ। सन्त भीखणजी ने श्रावकों को सुना। श्रावक उनकी श्रद्धा बुद्धि और वैराग्य पर विश्वास करते थे। इसलिए उन्होंने जो कहा उस पर तर्क को आगे नहीं बढ़ाया। विश्वास विफल नहीं होता। श्रावकों की बात सन्त भीखणजी ने सिर पर ओढ़ ली थी। उन्होंने मन-ही-मन सोचा—क्या हम लोग आचार शिथिल नहीं हैं? कलिकाल की दुहाई देकर क्या हम महाव्रतों की पग-पग अवहेलना नहीं करते? उनको शीत-ज्वर हो गया और उस दशा में उनके संकल्प ने नया मार्ग ढूँढ लिया। श्रावकों का विश्वास विफल नहीं हुआ।

९ आलोचना

कड़वी दवा भी लोग पीते हैं और वैद्य पिलाते हैं। दवा कड़वी है यह दोष नहीं है। दवा की कसौटी रोग मिटाने की क्षमता से की जाती है कड़वापन या मिठास से नहीं।

“आपके पद्य बहुत कड़वे हैं”—एक व्यक्ति ने कहा। आचार्य भिक्षु ने मुस्कराते हुए उत्तर दिया—“गम्भीर घाव का रोग है। वह सहलाने से कैसे मिटे? उसे मिटाने के लिए दुःख का ही दाग देना होता है।”[1]

आचार्य भिक्षु ने आचार की शिथिलता और विचारों के धुँधलेपन पर गहरा प्रहार किया। उनकी भाषा कठोर है चुभती है और है चुभनेवाली पर उसमें आत्मा की आवाज है वेदना की अभिव्यक्ति है अन्तर और भीतर की एकता है।

१० जागरण

राजस्थान में ब्याह आदि कुछ प्रसंगों पर रातिजगा—रात जागने की प्रथा है। आचार्य भिक्षु ने रूपान्तर में इस प्रथा को निभा ही लिया। पाली की घटना है। रात को व्याख्यान दिया। पूरा हुआ लोग चले गए। आप चौकी पर बैठे थे। दो आदमी खड़े-खड़े चर्चा करते रहे। आप उन्हें उत्तर देते रहे। और साधु भी खड़े थे। रात का पिछला प्रहर

१—भिक्खु-दृष्टान्त : ९६, पृष्ठ १८

आचार्य—मुझे कहना नहीं कल्पता।[1]

व्यवस्था के पालन के लिए अपने प्रिय शिष्य की भी उपेक्षा कर देनी चाहिए, यह बहुत बड़ा सिद्धान्त नहीं है, पर बहुत बड़ा कार्य है। जहाँ सिद्धान्त की गुरुता कार्य की गहराई में लीन हो जाती है, वहाँ कार्य और सिद्धान्त एक दूसरे में चमक ला देते हैं।

: १४ : अकिञ्चन की महिमा

सामग्री चौंधिया देती है, पर प्रथम दर्शन में। आदि से अन्त तक व्यक्ति का तेज ही चमकता है। उपकरण किसी के अन्तर को नहीं छू सकता। आचार्य भिक्षु पुर से भीलवाड़ा जा रहे थे। उन्होंने बीच में एक जगह विश्राम लिया। ढूँढाड़ का एक आदमी आ मिला। उसने पूछा—आपका नाम क्या है? आपने कहा—मेरा नाम भीखण है।

वह बोला—भीखणजी की महिमा तो बहुत सुनी है। फिर आप तो अकेले पेड़ के नीचे बैठे हैं। मेरी कल्पना तो थी कि आपके पास बहुत आडम्बर होगा—हाथी, घोड़े, रथ और पालकियाँ होंगी, पर कुछ नहीं देखता हूँ।

आचार्य—महिमा इसीलिए तो है कि पास में ऐसा आडम्बर नहीं। साधु का मार्ग ऐसा ही है।[2]

आचार्य भिक्षु उसके अन्तरतम के देवता हो गए।

अन्तरतम उसी के लिए सुरक्षित रह सकता है जो बाहरी सुरक्षा की चिन्ता से मुक्त होता है। सच तो यह है कि सुरक्षा बाहर में है भी नहीं। आचार्य भिक्षु अन्तर की सुरक्षा से इतने आश्वस्त थे कि बाहरी सुरक्षा का प्रयत्न उनके लिए मूल्यहीन बन गया था।

: १५ : जहाँ बुराई—भलाई बनती है

विश्व में अनेक घटनाएँ घटती हैं—कोई अनुकूल और कोई प्रतिकूल। अनुकूल घटना में मनुष्य फूलकर कुप्पा हो जाता है और प्रतिकूल घटना में सिकुड़ जाता है। यह तटस्थवृत्ति के अभाव में होता है। तटस्थ व्यक्ति समभावी होता है। उसका मन इतना बलवान् हो जाता है कि वह अप्रिय को प्रिय मानता है और असम्यक् को सम्यक् रूप में ग्रहण करता है।

आचार्य भिक्षु पाली में चातुर्मास करने आये। एक दुकान में ठहरे। एक सम्प्रदाय के आचार्य दुकान के मालिक के पास गए। उसकी पत्नी से

१—भिक्खु-दृष्टान्त ५७, पृष्ठ १०

२—वही १२५, पृष्ठ ५३

में क्रान्ति का बोध है। पर व्यक्तिगत आलोचना से जितने बचे उतना विरला ही बच सकता है।

एक आदमी ने पूछा—महाराज! इतने सम्प्रदाय हैं जिनमें कौन साधु है और कौन असाधु?

आचार्यवर ने कहा—एक अन्धा मनुष्य था। उसने वैद्य से पूछा—नगर में नग्न कितने हैं और कपड़े पहननेवाले कितने? वैद्य बोला—यह दवा लो आँख में डाल लो। मैं तुम्हें दृष्टि देता हूँ फिर तुम ही देख लेना—नग्न कितने हैं और कपड़े पहननेवाले कितने।

आपने कहा—साधु और असाधु की पहचान मैं बता देता हूँ फिर तुम्हीं परख लेना—कौन साधु है और कौन असाधु। नाम लेकर किसी को असाधु कहने से झगड़ा खड़ा हो जाता है। दृष्टि मैं देता हूँ और मूल्यांकन तुम्हीं कर लेना।[1]

एक समय किसी दूसरे व्यक्ति ने ऊपर का प्रश्न दोहराया।

आपने कहा—एक आदमी ने पूछा—इस शहर में साहूकार कौन है और दिवालिया कौन? उत्तरदाता ने कहा—मैं किसे साहूकार बताऊँ और किसे दिवालिया? मैं तुम्हें गुण बताये देता हूँ—जो लेकर वापस देता हो वह साहूकार, जो लेकर वापस न करता हो और माँगने पर झगड़ा करे, वह दिवालिया। परीक्षा तुम्हीं कर लेना—कौन साहूकार है और कौन दिवालिया?

आपने कहा—मैं तुम्हें लक्षण बता देता हूँ—जो महाव्रतों को ग्रहण कर उनका पालन करे वह साधु और जो उन्हें न निभाये वह असाधु। परीक्षा तुम्हीं कर लेना कौन साधु है और कौन असाधु?[2]

१३ : सिद्धान्त और आचरण की एकता

विचार दूसरों के लिए होता है अपने लिए नहीं वहाँ वह भी चर भी निर्जीव बन जाता है। जो महान् होता है वह सबसे पहले विचार को अपने ऊपर ही लागू करता है।

एक दूसरे सम्प्रदाय का साधु आया और आचार्य भिक्षु को एकांत में ले गया। आपने थोड़े समय तक बात चीत की और लौट आये।

हेमराजजी स्वामी आपके बाँये हाथ थे। उन्होंने पूछा—गुरुदेव! यह किसलिए आया था और उसने क्या बात चीत की?

आपने कहा—वह किसी दोष का प्रायश्चित्त लेने आया था।

हेमराजजी—किस दोष का?

१—भिक्खु दृष्टान्त : ९९ पृष्ठ ४२
२—वही : १　पृष्ठ ४२

आचार्य—मुझे कहना नहीं कल्पता ।[1]

व्यवस्था के पालन के लिए अपने प्रिय शिष्य की भी उपेक्षा कर देनी चाहिए, यह बहुत बड़ा सिद्धान्त नहीं है, पर बहुत बड़ा कार्य है । जहाँ सिद्धान्त की गुरुता कार्य की गहराई में लीन हो जाती है, वहाँ कार्य और सिद्धान्त एक दूसरे में चमक ला देते हैं ।

· १४ · अकिञ्चन की महिमा

सामग्री चौंधिया देती है, पर प्रथम दर्शन में । आदि से अन्त तक व्यक्ति का तेज ही चमकता है । उपकरण किसी के अन्तर को नहीं छू सकता । आचार्य भिक्षु पुर से भीलवाड़ा जा रहे थे । उन्होंने बीच में एक जगह विश्राम लिया । ढूँढाड़ का एक आदमी आ मिला । उसने पूछा—आपका नाम क्या है ? आपने कहा—मेरा नाम भीखण है ।

वह बोला—भीखणजी की महिमा तो बहुत सुनी है । फिर आप तो अकेले पेड़ के नीचे बैठे हैं । मेरी कल्पना तो थी कि आपके पास बहुत आडम्बर होगा—हाथी, घोड़े, रथ और पालकियाँ होंगी , पर कुछ नहीं देखता हूँ ।

आचार्य—महिमा इसीलिए तो है कि पास में ऐसा आडम्बर नहीं । साधु का मार्ग ऐसा ही है ।[2]

आचार्य भिक्षु उसके अन्तरतम के देवता हो गए ।

अन्तरतम उसी के लिए सुरक्षित रह सकता है जो बाहरी सुरक्षा की चिन्ता से मुक्त होता है । सच तो यह है कि सुरक्षा बाहर में है भी नहीं । आचार्य भिक्षु अन्तर की सुरक्षा से इतने आश्वस्त थे कि बाहरी सुरक्षा का प्रयत्न उनके लिए मूल्यहीन बन गया था ।

१५ : जहाँ बुराई—भलाई बनती है

विश्व में अनेक घटनाएँ घटती है—कोई अनुकूल और कोई प्रतिकूल । अनुकूल घटना में मनुष्य फूलकर कुप्पा हो जाता है और प्रतिकूल घटना में सिकुड़ जाता है । यह तटस्थवृत्ति के अभाव में होता है । तटस्थ व्यक्ति समभावी होता है । उसका मन इतना बलवान् हो जाता है कि वह अप्रिय को प्रिय मानता है और असम्यक् को सम्यक् रूप में ग्रहण करता है ।

आचार्य भिक्षु पाली में चातुर्मास करने आये । एक दुकान में ठहरे । एक सम्प्रदाय के आचार्य दुकान के मालिक के पास गए । उसकी पत्नी से

१—भिक्खु-दृष्टान्त ५७, पृष्ठ १०

२—वही १२५ पृष्ठ ५३

कहा—बहन ! तू न दुकान दी है पर चौमासा शुरू होने के बाद चार मास तक मीखणजी इसे छोड़ेंगे नहीं। वह आचार्य भिक्षु के पास आई। उसने कहा—मेरी दुकान से चले जाएं। आप ने कहा—हम जबर्दस्ती रहने वाले नहीं है। तू जभी कहेगी तभी चले जायेंगे। चातुर्मास में भी हम दुकान को छोड़ सकते है। बहन ने कहा—मुझे तुम्हारे जैसे ही कह गये हैं कि चौमासा शुरू होने पर दुकान नहीं छोड़ेंगे। इसलिए मैं दुकान में रहने की अनुमति नहीं दे सकती।

आचार्य भिक्षु उस दुकान को खाली कर दूसरी जगह चले गये। दिन में मढ़ैया में रहते और रात को नीचे दुकान में व्याख्यान देते। लोग बहुत आते।

प्रकृति रूप बदलती रहती है। राजस्थान में वर्षा कम होती है लेकिन इस वर्ष बरसात ने सीमा तोड़ दी। प्रकृति का प्रकोप बहुतों को सहना पड़ा। उस दुकान को भी सहना पड़ा जिसमें आचार्य भिक्षु पहले ठहरे थे। उसका शहतीर टूट गया। दुकान ढह गई। आचार्य भिक्षु ने यह सुना तो बोल उठे—दुकान से निकालने की प्रेरणा की उन पर सहज क्रोध आ सकता है। परन्तु वहीं माने में उन्होंने हमारा उपकार किया। यदि आज हम उस दुकान में होते तो [1]

बुराई करनेवाला अवश्य ही बुरा होता है। पर बहुत अच्छा तो वह भी नहीं होता जो बुराई के भार से दब जाए। बुराई को पैरों से रौंद कर चलनेवाला ही अपने मन को मजबूती से पकड़ सकता है।

११६ क्षमा की सरिता में

अमृत को जहर बनानेवाले विरल नहीं होते किन्तु जहर को अमृत बनानेवाले विरल ही होते हैं। जहर को अमृत नहीं बना सकता है जिसमें जहर न हो।

एक सम्प्रदाय के साधु और आचार्य भिक्षु के बीच तत्त्व-चर्चा हो रही थी। प्रसंगानुसार आपने बताया—धर्म के लिए हिंसा करने में दोष नहीं यह अनार्य-वचन है यह भगवान् महावीर ने कहा है। प्रतिवादी साधु ने अपने शिष्य से कहा—अपनी प्रति ला। यह पाठ शुद्ध नहीं है। शिष्य ने प्रति मँगवाकर देखा तो वही पाठ मिला जो बताया गया था। उनके हाथ काँपने लगे। तब आचार्यवर ने कहा—मुनिजी ! हाथ क्यों काँप रहे हैं ? पन्ना पाठ मुझ को उलझा है। आप सुनादें न। उनने पाठ नहीं सुनाया। आचार्य भिक्षु ने कहा—हाथ में कंपन होने के चार कारण होते हैं

१—कंपन वात

२—मोप का आवेश

१—भिक्षु-दृष्टान्त : २ पृष्ठ १४

३—मैथुन का आवेश और

४—चर्चा में पराजय।

यह सुनकर मुनिजी ने कहा—साले का माथा काट डालूँ।

जहर को अमृत बनाते हुए आचार्य भिक्षु ने कहा—मुनि! जगत् की सारी स्त्रियाँ मेरी बहन है। आपके स्त्री है तो मैं आपका भी साला हो सकता हूँ, यदि आपके स्त्री नही है, आप मुझे साला बनाते हैं तो आपको झूठ बोलने का दोष लगता है। आपने दीक्षा ली तब सभी जीवों को मारने का त्याग किया था। आपकी दृष्टि में मैं साधु भले ही न होऊँ, पर मनुष्य तो हूँ, एक प्राणी तो हूँ। दीक्षा लेते समय क्या मुझे मारने की छूट रखी थी?[1]

विरोध विनोद में बदल गया, जहर अमृत बन गया। लोग खिलखिला उठे। आवेश का दोष क्षमा की सरिता में बह गया।

: १७ : सत्य का खोजी

सत्य उसी के पल्ले पडता है जिसकी आत्मा पवित्र होती है। उसमें सत्य का ही आग्रह होता है, बाहरी उपकरणो का नही।

एक दिन कुछ दिगम्बर-जैन आचार्य भिक्षु के पास आये। उन्होने कहा—महाराज आपका आचार और अधिक चमक उठे, यदि आप वस्त्र न पहनें। आपने कहा—आपलोगों की भावना अच्छी है, पर मुझे श्वेताम्बर-आगमों में विश्वास है। उन्ही के आधार पर मैंने घर छोडा है। उनके अनुसार मुनि कुछ वस्त्र रख सकता है, इसीलिए मैं रखता हूँ। यदि मुझे दिगम्बर-आगमो में विश्वास हो जाय तो मैं उसी समय वस्त्रो को फेंक दूँ, नग्न हो जाऊँ।[2]

सत्य का शोधक जितना निश्छल होता है उतना ही नम्र। आचार्य भिक्षु ने जो नई व्याख्या की, उसके अंत में लिख दिया कि मुझे यह सही लगता है, इसलिये मैं ऐसा करता हूँ। किसी आचार्य और बहुश्रुत मुनि को यह सही न लगे तो वे इसमें परिवर्तन कर दें।[3]

यह बात वही लिख सकता है जिसे सत्य के नये उन्मेषो का ज्ञान हो। सत्य अनन्त है, वह शब्दो की पकड में नही आता। आग्रही मनुष्य उसे रूढि बना देते हैं, किन्तु उसे पा नहीं सकते।

: १८ : जो मन को पढ़ सके

मनुष्य की आकृति जैसे भिन्न होती है, वैसे प्रतिभा भी भिन्न होती है।

१—भिक्खु-दृष्टान्त ९१, पृष्ठ ३६-३९

२—वही ३१, पृष्ठ १५

३—मोंनें तो फताइया री दोष न भासें, जाणें नें सुध ववहार।
जो निर्मल दोष फताइयां में जांणों, ते मत वहरजो लिगार रे॥
(श्रद्धा निर्णय री चोपी १६-५१)

कोई अपने मन की बात को भी पूरा नहीं समझ पाता और कोई दूसरो के मन की बात को भी पकड़ लेता है। दूसरो के हृदय को अपने हृदय में उडेलनेवाला उस दूरी को मिटा देता है जो मनुष्य-मनुष्य के बीच में है।

आचार्य भिक्षु आएँ तो मैं साध्वी बनूँ—एक बहन ऐसा बार-बार कहती रही। आप केलवा में आये। उस बहन को ज्वर हो गया। धाम को वह दर्शन करने आई। उसकी गति और बोली में शिथिलता थी। आपने उससे पूछा—बहन! क्या हुआ जो धीमे धीमे कैसे बोलती हो? वह बोली—गुरुदेव! आपका तो आना हुआ और मुझे ज्वर हो गया। आपने कहा—ज्वर दीक्षा के डर से तो नहीं आया है? बहन—मन में थोड़ा डर आया तो था। आप—दीक्षा कोई ऐसा खेल नहीं है जो हर कोई खेल के। यह यावज्जीवन का कार्य है।

एक भाई ने कहा—गुरुदेव! साधु बनने की इच्छा है।

आचार्यवर ने कहा—तेरा हृदय कोमल है। दीक्षा के समय घरवाले रोयें तब तू भी रोने लग जाये तो?

भाई बोला—गुरुदेव! आप सच कहते है आँसू तो छलक पड़ेंगे।

आप—जामाता ससुराल से अपने घर लौटे तब उसकी स्त्री रोये वैसे वह भी रो पड़े तो कैसा लगे? कोई साधु बने तब उसके परिवारवाले रोय वह स्वार्थ हो सकता है पर परमार्थ-पथ का अनुगामी भी उनके साथ-साथ रोने लगे तो वैराग्य की रीढ़ टूट जाती है।

नेता का अर्थ होता है दूसरो को आगे चलनेवाला। जो व्यक्ति नेता होकर भी दूसरों के मन को नहीं पढ सकता वह दूसरो को साथ लिये नहीं चल सकता। दूसरो को साथ लेकर चलने के लिये जो चलता है वह दूसरो के मन को नहीं पढ सकता। दूसरो के मन को वह पढ़ सकता है जिसके मन की स्वच्छता में दूसरो के मन अपना प्रतिबिम्ब डाल सकें। जिसका मन इतना स्वच्छ होता है, उसकी गति के साथ असंख्य चरण चल पड़ते हैं।

: १६ व्यवहार-कौशल

अन्तर की शुद्धि का महत्त्व अपने लिये अधिक होता है, दूसरो के लिये कम। व्यवहार की कुशलता का महत्त्व अपने लिये कम होता है, दूसरो के लिये अधिक। अन्तर की शुद्धि के बिना कोरी व्यवहारकुशलता छलना हो जाती है और व्यवहारकुशलता के बिना अन्तर की शुद्धि दूसरो के लिये उपयोगी नहीं होती।

१—भिक्खु-दृष्टान्त : १६ पृष्ठ ११
२—वही : १७ पृ० १७

एक गाँव मे साधु भिक्षा लेने के लिये गये। एक जाटनी के घर आटे का धोवन था। साधुओ के माँगने पर भी उसने नही दिया। साधु खाली झोली लिये लौट आये।

आचार्य भिक्षु ने कहा—जल वहुत है पर मिल नहीं रहा है।

भिक्षु—क्यो ? क्या वह वहन देना नही चाहती ?

साधु—वह जो देना चाहती है, वह अपने लिये ग्राह्य नही है और जो ग्राह्य है, उसे वह देना नहीं चाहती है।

भिक्षु—उसे धोवन देने मे क्या आपत्ति है ?

साधु—वह कहती है—"आदमी जैसा देता है वैसा ही पाता है। आटे का धोवन दूँ तो मुझे आगे वही मिलेगा। मैं यह नही पी सकती। यह साफ पानी है, आप ले लीजिये।"

आचार्य भिक्षु उठे और साधुओ को साथ लेकर उसी घर में गये। धोवन की माँग करने पर उस वहन ने वही उत्तर दिया, जो वह पहले दे चुकी थी।

भिक्षु—वहन। तेरे घर में कोई गाय है ?

वहन—हाँ महाराज। है।

भिक्षु—तू उसे क्या खिलाती है ?

वहन—चारा, घास।

भिक्षु—वह क्या देती है ?

वहन—दूध।

भिक्षु—तब वहन। जैसा देती है वैसा कहाँ मिलता है ? घास के वदले दूध मिलता है।

अब वह रुक नही सकी। जल का पात्र उठा, सारा जल उसने साधुओ के पात्र में उडेल दिया।[1]

इस जगत् में अनेक कलाएँ होती हैं। उनमें सबसे वडी कला है दूसरो के हृदय का स्पर्श करना। उस कला का मूल्य कैसे आँका जाए जो दूसरो के हृदय तक पहुँच ही नहीं पाती।

२० : चमत्कार को नमस्कार

दुनियाँ चमत्कार को नमस्कार करती है। व्यक्ति नहीं पूजा जाता, शक्ति पूजी जाती है। पूर्णिमा के चाँद की पूजा नहीं होती, दूज का चाँद पूजा जाता है। सीधी वात पर ध्यान नही जाता, वक्रोक्ति सहसा मन को खीच लेती है। कवित्व एक शक्ति है। वक्रोक्ति से वढ कर और काव्य का क्या चमत्कार होगा ?

आचार्य भिक्षु पीपाड में चौमासा कर रहे थे। वहाँ जग्गू गाँधी उनके सम्पर्क

१—भिक्खु-दृष्टान्त २४, पृष्ठ १६

में आया और उनका अनुयायी बन गया। कुछ लोगों ने कहा—स्वामीजी! बभूतो मोची आपका अनुयायी बना इस बात से अमुक सम्प्रदायवाले सभी लोगों को कष्ट हुआ है पर बेतसी कुमावत को तो बहुत ही कष्ट हुआ है। स्वामीजी बोले—विदेश से मौत का समाचार आने पर चिंता सबको होती है पर लम्बी कांचुकी तो एक ही पहनती है।[1]

आचार्य भिक्षु व्याख्यान देते। कुछ लोगों को वह बहुत ही अच्छा लगता और कुछ उसका विरोध करते। जिनका विरोध था उन्होंने कहा—भीखणजी व्याख्यान देते हैं तब रात एक पहर से बहुत अधिक चली जाती है। आचार्य भिक्षु ने कहा—सुख की रात छोटी लगती है। दुःख की रात बहुत बड़ी। वैसे ही जिन्हें व्याख्यान सहन नहीं होता उन्हें रात अधिक लगती है।

एक व्यक्ति ने कहा—स्वामीजी! इधर आप व्याख्यान दे रहे हैं और उधर सामने बैठे हुए कुछ लोग आपकी निन्दा कर रहे हैं। आपने कहा—यह आदत की लाचारी है। झालर बजने पर कुत्ता भौंकता है। वह यह नहीं समझता है कि यह विवाह के अवसर पर बज रही है या किसी के मर जाने पर। निंदा करनेवाला यह नहीं देखता कि यह ज्ञान की बात कही जा रही है या कुछ और। उसका स्वभाव निंदा करने का है सो कर लेता है।[2]

तत्त्व की चर्चा में लम्बाई होती है। काव्य की चर्चा लम्बी नहीं होती। उसकी समाप्ति वह एक ही वाक्य कर देता है जिसमें चुभने की क्षमता हो।

: २१ : विवाद का अन्त

एक रस्सी को पकड़ कर दो आदमी खींचते हैं—एक इधर और एक उधर। परिणाम क्या होता है? रस्सी टूटती है। दोनों आदमी गिर जाते हैं। खिंचाव करनेवाला अर्थात् गिरनेवाला। जो खिंचाव को मिटाता है वह अपने को गिरने से उबार लेता है।

दो साधुओं में खींचातानी हो गई। वे आचार्य भिक्षु के पास आये। एक ने कहा—इसने पात्र में से इतनी दूर तक जल की बूंदें गिरती गई। दूसरे ने कहा—नहीं इतनी दूर तक नहीं गिरीं। तीसरा कोई साथ में नहीं था। दोनों अपनी अपनी बात पर डटे रहे। विवाद नहीं सुलझा। तब आचार्यवर ने कहा—तुम दोनों रस्सी लेकर जाओ और उस स्थान को माप कर वापस आ जाओ।

१—भिक्खु-दृष्टान्त : १७ पृष्ठ १
—वही : १८ पृष्ठ १
२—वही : १९ पृष्ठ १

दोनों के मन की नाप हो गई। पहले ने कहा—हो सकता है मेरे देखने में भूल रह गई हो। दूसरे ने कहा—हो सकता है मैं दूरी को ठीक-ठीक न पकड़ सका होऊँ। दोनों अपने-अपने आग्रह का प्रायश्चित्त कर गिरने से बच गये और शुद्ध हुए।[1]

दो साधु एक विवाद को लेकर आये। एक ने कहा—गुरुदेव ! यह रसलोलुप है। दूसरा बोला—मैं नहीं हूँ, रसलोलुपता इसमें है। वाणी का यह विवाद कैसे निपटे ? स्वामीजी के समझाने पर भी वे समझ नहीं सके। आखिर आपने कहा—तुम दोनो मुझसे स्वीकृति लिये बिना विगय खाने का त्याग करो। जो विगय खाने की स्वीकृति पहले लेगा, वह कच्चा है और दूसरा पक्का। दोनो ने आचार्य की आज्ञा को शिरोधार्य किया। चार मास तक उन्होने दूध, दही, घी, मिठाई आदि कुछ नही खाये। पूरा चातुर्मास बीतने पर एक ने विगय खाने की स्वीकृति ली। विवाद की आँच मंद हो चुकी थी।[2]

'है' और 'नही' की चर्चा एक खतरनाक रस्सी है। इसमें हर आदमी के पैर उलझ जाते है। एक कहता है कि इसकी लम्बाई-चौडाई इतनी है, दूसरा कहता है—नही, इतनी नहीं है। एक कहता है—हम आज नौ बजे सोये, दूसरा कहता है नही, हम सवा नौ बजे सोए थे। ऐसे विवादों का कोई अर्थ भी नहीं है तो कोई अन्त भी नही है। इसका अन्त वही ला सकता है, जिसे अन्तर की अनुभूति में स्वाद आ जाए।

२२ जिसे अपने पर भरोसा है

वहाँ सारी भाषाएँ मूक बन जाती है, जहाँ हृदय का विश्वास बोलता है। जहाँ हृदय मूक होता है, वहाँ भाषा मनुष्य का साथ नही देती। जहाँ भाषा हृदय को ठगने का यत्न करती है, वहाँ व्यक्ति विभक्त हो जाता है। अखंड व्यक्तित्व वहाँ होता है, जहाँ भाषा और हृदय में द्वैध नही होता। आचार्य भिक्षु की आस्था बोलती थी। उनकी भावना एक ही देव की उपासना में सिमटी हुई थी। एक देव—कोई एक व्यक्ति नहीं, किन्तु वे सब व्यक्ति जो वीतरागमय हो, जिनके चारित्र में राग-द्वेष के धब्बे न हों। लोगों में स्वार्थ होता है। वे उसकी पूर्ति के लिये अनेक देवो की पूजा करते हैं। जिन्हें अपने ऊपर भरोसा नही होता, वे पग-पग पर देवों की पूजा करते हैं। उस समय के लोग भी भैरव, शीतला आदि अनेक देवो की मनौती करते थे। आचार्य भिक्षु इसे मानसिक दुर्बलता बताते। प्रवचन-प्रवचन में इसका खण्डन करते।

एक दिन हेमराजजी स्वामी ने कहा—गुरुदेव ! आप इन लौकिक देवताओं

१—भिक्खु-दृष्टान्त १६७, पृष्ठ ६७
२—वही १६८, पृष्ठ ६७, ६८

की पूजा का लोभन करते हैं पर कहीं वे कुपित हो गये तो ? आपने व्यंग की भाषा में कहा—यह युग सम्यग्‌दृष्टि देवताओं का है। ये भैरव आदि कुपित होकर करेंगे भी क्या।[1]

दूसरों पर अधिक भरोसा वही करता है जिसे अपनी शक्ति पर भरोसा नहीं है। मनुष्य जाग कर भी सोता है इसका यह मतलब है कि उसे अपनी शक्ति पर भरोसा नहीं है। मनुष्य सोकर भी जागता है इसका मतलब है कि उसे अपने आप पर भरोसा है। जिसे अपने पर भरोसा है वह सब कुछ है।

२१ पुरुषार्थ की गाथा

कहा जाता है—महापुरुषों की कार्य सिद्धि उनके सत्त्व में होती है उपकरणों में नहीं होती। प्राचीन खगोल-शास्त्री कहते हैं—सूर्य का सारथी लंगड़ा है। फिर भी वह असीम आकाश की परिक्रमा करता है। पौराणिक कहते हैं—राम ने रावण को जीता और उनकी सहायता कर रही थी बन्दर-सेना।

आचार्य भिक्षु की साधन-सामग्री स्वल्पतम थी। एक बार उनके सहयोगी साधु छः ही रह गये थे। साध्वियाँ नहीं थी। जैन-परम्परा में साधु-साध्वी श्रावक और श्राविका—ये चार तीर्थ कहलाते हैं।

एक व्यक्ति ने कहा—भीखणजी का लड्डू खण्डित है—पूरा नहीं है।
आपने कहा—पूरा भले ही मत हो पर है असली "चौमुखी चीनी का।
कुछ वर्षों के पश्चात् साध्वियाँ बनीं।

एक बार तेरह साधु थे। इसे लक्षित कर एक व्यक्ति ने आचार्य भिक्षु के संघ का नाम "तेरापंथी" रख दिया। अपने विचारों का अनुयायी समाज होने की परिकल्पना उन्हें नहीं थी। नया सम्प्रदाय खड़ा करना उनका लक्ष्य भी नहीं था। वे आत्मशोधन के लिए चले थे। उनके साथ एक छोटी सी मंडली थी। आचार्य भिक्षु संख्या को नहीं मानते थे। उनका विश्वास गुण में था। उनके अनन्य सहयोगी और अनन्य विश्वासपात्र थे भारीमालजी।

'भारीमाल! हम आचार्य रुघनाथजी को छोड़ आए हैं। हमें नये सिरे से दीक्षा लेनी है। तुम्हारे पिता की प्रकृति बहुत उग्र है। हमें कठिनाइयों का सामना करना होगा। तुम्हारे पिता में उन्हें झेलने का सामर्थ्य नहीं है। इसलिये मैं उन्हें अपने साथ नहीं रख सकता। तुम्हारी क्या इच्छा है मेरे साथ रहना चाहते हो या अपने पिता के साथ" आचार्य भिक्षु ने कहा।

१—भिक्षु-दृष्टान्त। २०९, पृष्ठ ११०
२—वही। १२ पृष्ठ ११

भारीमालजी ने दृढ़तापूर्वक आचार्य भिक्षु के साथ रहने की इच्छा व्यक्त की—"मुझे आपका विश्वास है। साधुत्व में मेरी आस्था है। मेरे चरण आपके चरण-चिह्नों का ही अनुगमन करेंगे। मैं आपको छोड़कर कहीं नहीं जा सकता"—भारीमालजी ने कहा।

आचार्य भिक्षु ने कृष्णोजी के सामने वही बात दोहराई। उन्होंने कहा—आप मुझे साथ नहीं रखेंगे तो मेरा पुत्र भी आपके साथ नहीं रह सकेगा।

आचार्य भिक्षु ने कहा—यह रहा तुम्हारा पुत्र, मैं इसे कब रोकता हूँ। तुम इसे ले जा सकते हो। कृष्णोजी हठपूर्वक भारीमालजी को अपने साथ लेकर दूसरी जगह चले गए। भारीमालजी उस समय चौदह वर्ष के थे, पर उनकी आत्मा चौदह वर्ष की नहीं थी। उनके चिर-सचित सस्कार जाग उठे। पुत्र के सत्याग्रह के सामने पिता का आग्रह टूट गया। वे अपने पुत्र को साथ लिए आचार्य भिक्षु के निकट आये। नम्रभाव से कहा—गुरुदेव! यह आप ही की सपत्ति है। इसे आप ही सम्भालें। यह दो दिन का भूखा-प्यासा है। इसे आप भोजन करायें, जल पिलायें। यह आप से बिछुड़कर जीवन-पर्यन्त अनशन करने पर तुला हुआ है। यह मेरे साथ नहीं रहना चाहता।[१]

फल में जो होता है, वह सारा का सारा बीज में होता है। बीज आकार में ही छोटा होता है, प्रकार में नहीं। तेरापन्थ के विकास का बीज आचार्य भिक्षु का जीवन था। उनके जीवन में समस्त-पद की वह सफलता है, जिसमें अनेक विभक्तियाँ लीन हों। उनके जीवन में सिन्धु की वह गहराई है, जिसमें असख्य सरिताएँ समाहित हो सकती है।

उनके जीवन में क्षमा, बुद्धि, परीक्षा आदि ऐसे विशेष मनोभावो का सगम था, जो सहज ही एक धर्म-क्रान्ति की भूमि का निर्माण कर सका।

✤

१—भिक्खु-दृष्टान्त : २०२, पृष्ठ ८२

अध्याय : २

प्रतिध्वनि

१ धर्म-क्रान्ति के बीज

यह उन्नीसवीं सदी के प्रथम चरण की घटना है। राजपूताने की मरुस्थली में एक धर्म-क्रान्ति हुई। भारतीय परम्परा में धर्म राजनीति से भिन्न रहा इसलिए राज्य-व्यवस्था पर उसका कोई प्रभाव नहीं हुआ। समाज-व्यवस्था भी धर्म द्वारा परिचालित नहीं थी इसलिए उसपर भी उसका प्रत्यक्ष प्रभाव नहीं पड़ा। किन्तु समाज में रहनेवाले उससे सर्वथा अछूते कैसे रह सकते थे? परम्परा के पोषक इसको सहन नहीं कर सके। उन्होंने आचार्य भिक्षु को विद्रोही घोषित कर दिया।

इस धर्म-क्रान्ति का निकट सम्बन्ध जैन-परम्परा से था। विरोध की चिनगारी वहीं सुलगी। आचार्य भिक्षु एवं उनके पश्चात् तेरापंथ पर तीव्र प्रहार होने लगे।

प्रहार करना आत्मसंयम की कमी का प्रतीक है। अप्रिय परिस्थिति बनने पर ही व्यक्ति के संयम का मूल्यांकन होता है। आचार्य भिक्षु जिस परम्परा से मुक्त हुए उसके लिए यह अप्रिय घटना थी और उनका उसके प्रति प्रहार करना भी अस्वाभाविक नहीं था। वह वैसे ही हुआ। पर वह एक समिद्ध ज्योति थी। हवा के झोंके उसे बुझा नहीं सके। उसे चिर-साथी का स्नेह और संयम की सुरक्षा प्राप्त थी। प्रतिरोध के उपरान्त भी वह प्रदीप्त होती गई। उसके आलोक में लोगों को 'तेरापंथ' की झाँकी मिली।

तेरापंथ और आचार्य भिक्षु आज भी भिन्न नहीं हैं किन्तु उस समय तो आचार्य भिक्षु ही तेरापंथ और तेरापंथ ही आचार्य भिक्षु थे। तेरापंथ एक विस्फोट है। महावीर-वाणी के सुप्त बीज तेरापंथ की भूमिका में प्रस्फुटित हुए,

वैसे सम्भवत पहले नही हुए। तेरापथ महावीर की अहिंसा का महाभाष्य है। उस महाभाष्य की कुछ पक्तियाँ आज राजनीति की भूमिका में प्रत्यावर्तन पा रही हैं। समाज भी उन्हें मान्यता दे रहा है। वह शाश्वत-सत्य, जिसकी भगवान् महावीर ने अनुभूति की और जिसे आचार्य भिक्षु ने अभिव्यक्ति दी, आज युग की भाषा में बोल रहा है।

उस समय बडे जीवों की रक्षा के लिए छोटे जीवों के वध को पुण्य माना जाता था। अहिंसा के क्षेत्र में भी बल-प्रयोग मान्य था। पुण्य के लिए धर्म करना भी सम्मत था। अशुद्ध साधन के द्वारा भी शुद्ध साध्य की प्राप्ति मानी जाती थी और दान मात्र को पुण्य माना जाता था।

आचार्य भिक्षु ने इन मान्यताओ की आलोचना की। बडे-छोटे के प्रश्न पर उन्होंने सब जीवों की समानता की बात याद दिलाई। बल-प्रयोग के स्थान पर हृदय-परिवर्तन की पुष्टि की। उन्होंने कहा—'धर्म करने पर पुण्य स्वय होता है, पर पुण्य करने के लिए धर्म करना लक्ष्य से दूर जाना है। शुद्ध साध्य की प्राप्ति शुद्ध साधनो के द्वारा ही हो सकती है और दान का अधिकारी केवल सयमी है, असयमी नही।' उस समय इसकी क्या प्रतिक्रिया हुई, यह बताने से पूर्व यह बताना आवश्यक है कि ये विचार युग की भाषा में कैसे प्रतिध्वनित हो रहे हैं।

'सब मनुष्य समान है,' यह इस युग का प्रमुख घोष है। बडो के लिए छोटों के बलिदान की बात आज निष्प्राण हो चुकी है।

समझा-बुझाकर बुराई को दूर किया जाय, इस हृदय-परिवर्तन के सिद्धान्त पर मनोविज्ञान की छाप लग चुकी है। आज अपराधियों के लिये भी दण्ड-व्यवस्था की अपेक्षा सुधार की व्यवस्था पर अधिक ध्यान दिया जाता है। आज के सभ्य राष्ट्र फाँसी की सजा को मिटा रहे हैं और अपराध-सुधार के मनोवैज्ञानिक उपायों पर ध्यान केन्द्रित कर रहे हैं। महात्मा गाँधी ने हृदय-परिवर्तन के सिद्धान्त पर लगभग उतना ही बल दिया, जितना कि आचार्य भिक्षु ने दिया था। इन दोनों धाराओं में अद्भुत सामञ्जस्य है।

"यह तो कहीं नहीं लिखा है कि अहिंसावादी किसी आदमी को मार डाले उसका रास्ता तो बिल्कुल सीधा है। एक को बचाने के लिये वह दूसरों की हत्या नहीं कर सकता। उसका पुरुषार्थ एव कर्त्तव्य तो सिर्फ विनम्रता के साथ समझाने-बुझाने में है।"[1]

प० नेहरु की यह भाषा कि अधिकार के लिए प्रयत्न न हो, वह हो कर्त्तव्य के लिये—अधिकार स्वय प्राप्त होता है—सहसा उसकी याद दिला देती

१—हिन्द स्वराज्य पृष्ठ ७५ ७६

कि पुण्य के लिये धर्म न हो वह आत्मशुद्धि के लिये हो पुण्य स्वतः प्राप्त होता है।

साम्यवादी लक्ष्य की पूर्ति के लिए अशुद्ध साधनों को भी प्रयोजनीय मानते हैं। इसी आधार पर असाम्यवादी राजनयिक उनकी आलोचना करते हैं। वे अशुद्ध साधनों के प्रयोग को उचित नहीं मानते।

साध्य के सही होने पर भी अगर साधन गलत हो तो वे साध्य को बिगाड़ देंगे या उसे गलत दिशा में मोड़ देंगे। इस तरह साधन और साध्य में गहरा और अटूट सम्बन्ध है। ये दोनों एक दूसरे से अलग नहीं किये जा सकते।

दान सामाजिक तत्त्व है। वर्तमान समाज-व्यवस्था में इसके लिये कोई स्थान नहीं वह समाज-सम्मत हो चुका है। दान के स्थान पर सहयोग की चर्चा चल पड़ी है। दुनियाँ में शारीरिक श्रम के बिना भिक्षा माँगने का अधिकार केवल सच्चे सन्यासी को है। जो ईश्वर भक्ति के रंग में रंगा हुआ है ऐसे सच्चे सन्यासी को ही यह अधिकार है।

आचार्य भिक्षु अध्यात्म की भूमिका पर बोलते थे। उनका चिन्तन मोक्ष की मान्यता के साथ-साथ चलता था। राजनीति की भूमिका उससे भिन्न है और उसका साध्य भी भिन्न है। इस भूमिका-भेद को ध्यान में रखकर हम सुनें तो हमें यही अनुभव होगा कि वर्तमान युग उसी भाषा में बोल रहा है जिसमें आचार्य भिक्षु बोले थे। आज उन तथ्यों की घोषणा हो रही है जिनकी आचार्य भिक्षु ने अभिव्यक्ति दी थी।

२ साधना के पथ पर

इस अभिव्यक्ति का इतिहास ज्वलन्त साधना और कठोर तपस्या का इतिहास है। आचार्य भिक्षु अभिव्यक्ति देने नहीं किन्तु सत्य की उपलब्धि के लिये चले थे। ईसा को फाँसी और सुकरात को विष की प्याली ही नहीं मिली थी कुछ और भी मिला था। आचार्य भिक्षु को रोटी-यातना ही नहीं मिली थी सत्य भी मिला था। प्राय पाँच वर्ष तक उन्हें पेट भर भिक्षा नहीं मिली। एक व्यक्ति ने पूछा—महाराज! घी-गुड़ मिलता होगा। आपने उत्तर दिया—पाली के बाजार में कभी-कभी दीख पड़ता है।[3]

१—सर्वोदय का सिद्धान्त पृष्ठ ११
२—विनोबा के विचार : पृष्ठ १२
३—भिक्षु जश रसायन : १ सोरठा १

पंच वर्ष पहिछाण रे, अन्न पिण पूरो ना मिल्यो।
बहुल पणे तब जाण रे घी चोपड़ तो क्यांहीई रह्यो।।

तेरापन्थ की स्थापना उनका लक्ष्य नहीं था। उनका लक्ष्य था संयम की साधना। वे उस मार्ग पर चलने के लिये मृत्यु का वरण करने से भी नहीं हिचकते थे।[1] उनके तथ्यों को लोग पता मगेंगे, उनकी यह धारणा नहीं थी। उनके विचारों को मान्यता देनेवाला कोई समाज होगा, यह कल्पना उन्हें नहीं थी। उनके पास आना, उनसे धर्म-चर्चा करना सामाजिक अपराध था। लोग उनका विरोध करने में लीन थे। वे अपनी तपस्या करने में संलग्न थे। सतत विरोध और तपस्या ने एक तीसरी स्थिति उत्पन्न की। जन-मानस में आचार्य भिक्षु के महान् व्यक्तित्व के प्रति जिज्ञासा उत्पन्न हुई। लोग रात में या एकान्त में छिप-छिपकर आने लगे। पर आचार्य भिक्षु अभिव्यक्ति से दूर अपनी साधना में ही रत थे। दो मुनि आये जो पिता और पुत्र थे। उनका नाम था थिरपाल और फतेचन्द। वे हाथ जोड़कर बोले—"गुरुदेव! उपवास हम करेंगे, सूर्य की गर्मी से तपी हुई नदी की सिकता में हम लेटेंगे, आप ऐसा मत करें। आपकी प्रतिमा निर्मल है। आपसे सत्य की अभिव्यक्ति होगी। लोगों में जिज्ञासा जागी है। आप उन्हें प्रतिबोध दें।" उनका विनय भरा अनुरोध उन्होंने स्वीकार किया और मौन को उपदेश में परिणत कर दिया।

अपने ध्येय के प्रति आचार्य भिक्षु की गहरी निष्ठा थी। उसीसे उनमें तितिक्षा का उदय हुआ। उन्होंने बहुत सहा, शारीरिक कष्ट सहे, तिरस्कार सहा, गालियाँ सही और कभी-कभी घूँसे भी सहे। ठहरने के लिये स्थान की कठिनाई थी। लोग पीछे पड़ रहे थे। नाथद्वारा की घटना है—वे चातुर्मास कर रहे थे। दो मास बीते और राज्य का आदेश हुआ कि वे वहाँ से चले जाएँ। उनके शेष दो मास 'कोठारिया' गाँव में बीते।

घाणेराव के कई व्यक्ति मिले। उन्होंने पूछा—तुम कौन हो? मैं भीखन हूँ, आचार्य भिक्षु ने कहा। ओह! अनर्थ हो गया—उन्होंने कहा। उन्होंने पूछा—सो कैसे? वे बोले—"तुम्हारा मुँह देखनेवाला नरक में जाता है।" "तुम्हारा मुँह देखनेवाला तो स्वर्ग में जाता होगा?" आचार्य भिक्षु ने पूछा। उन्होंने स्वीकृति-सूचक सिर हिला दिया। आचार्य भिक्षु ने कहा—तुम्हारे लिये अच्छा नहीं हुआ, मेरे लिये तो अच्छा ही हुआ है—मुझे तो स्वर्ग ही मिलेगा, क्योंकि तुम्हारा मुँह देखा है।[2]

उदयपुर में एक व्यक्ति आया और कहने लगा—मुझ से तत्त्व-चर्चा का कोई प्रश्न पूछो। आचार्य भिक्षु ने नहीं पूछा। बारबार अनुरोध किया,

---

१—भिक्षु जश रसायण ९, दू० १०
मरणधार सुध समझियौ, कमिय न राखी काय।
२—भिक्खु-दृष्टान्त : १५, पृष्ठ ९

तब पूछा—तुम समनस्क हो या अमनस्क ? उसने कहा—समनस्क। आचार्य ने पूछा—कैसे ? उसने कहा—नही मैं अमनस्क हूं। फिर पूछा—किस न्याय से ? वह बोला—नही मैं दोनो ही नही हूं। आपने कहा—वह फिर किस न्याय से ? वह बोला—नहीं दोनों ही हूं। फिर पूछा गया वह किस न्याय से ? वह इस न्याय-न्याय से रुष्ट होकर छाती में घूंसा मार चलता बना।[१]

तेरापंथ की शान्तिपूर्ण नीति आचार्य भिक्षु की शिक्षा की ही परिणति है। इन दो शताब्दियों में तेरापंथ की उत्तरतापूर्ण और निम्नस्तर की आलोचना कुछ सम्प्रदाय के व्यक्तियों ने की प्रचुर मात्रा में विरोधी साहित्य भी निकला। पर इन पूरे दो सौ वर्षो में एक भी ऐसा उदाहरण नही है कि विरोध का प्रत्युत्तर उत्तरतापूर्ण ढंग से दिया गया हो या विरोधपूर्ण दो पंक्तियाँ ही प्रकाशित की हो।

शान्तिपूर्ण नीति से क्रियात्मक शक्ति का बहुत ही अर्जन हुआ है इसका श्रेय आचार्य भिक्षु की ध्येय निष्ठा को है।

ससार से आचार्य भिक्षु की सच्ची विरक्ति थी। उनकी दृष्टि में वह बुद्धि असार है जो धर्म में लीन नही होती। उन्होने जो धर्म चर्चा की वह मोक्ष को केन्द्र बिन्दु मान कर की। समाज की भूमिका पर खडे व्यक्ति को उसमें कही-कही अतिवाद या वैराग्य के अन्तिम छोर को पकडने जैसा लगता है। यद्यपि समाज के पारस्परिक सहयोग का लोप करना उनका लक्ष्य नही था फिर भी 'आपात-दर्शन' में पाठक को ऐसा अनुभव होता है कि वे सामाजिक सहयोग का निरसन कर रहे है। गहराई मे जाने पर अनुभव होता है कि वे मोक्ष-धर्म और जीवन-व्यवहार के बीच भेद रेखा खीच रहे हैं। धर्म का आधार विरक्ति है और उसकी परिणति है त्याग। त्याग उतना ही होता है जितनी विरक्ति होती है। विरक्तिशून्य त्याग त्याग ही नही होता है और यह भी नही होता कि विरक्ति हो और त्याग न हो। सब जीवों का मनोभाव समान नही होता। किसी की पदार्थो में अनुरक्ति होती है और किसी की विरक्ति। अनुरक्त के विचार विरक्त को अद्भुत से लगते हैं और विरक्त के विचार अनुरक्त को। यह अद्भुतता सापेक्ष है। अपनी-अपनी स्थिति में कोई अद्भुत नहीं है।

: ३ चिन्तन की धारा

पाँव के रोगी को खुजलाना अच्छा लगता है पर जिसे पाँव नहीं है उसे वह अच्छा नहीं लगता। जिनमें मोह है उसे भोग प्रिय लगता है। जो मोह

१—भिक्षु-दृष्टान्त : ४७ पृष्ठ २१

के जाल से दूर है, उसे लगता है, भोग मोक्ष की बाधा है।[1] अनुभूति भिन्न होती है और उसका हेतु भी भिन्न होता है। हमारी अनुभूति आत्म-मुक्ति की ओर झुकी हुई होगी तो हम आचार्य भिक्षु के चिन्तन को यथार्थ पायेंगे और हमारी अनुभूति पदार्थोन्मुख होगी तो वह हमें अटपटा सा लगेगा। आचार्य भिक्षु की वाणी है—"जो सांसारिक उपकार है, वे मोहवश किये जाते हैं। सासारिक जीव उनकी प्रशसा करते हैं, साधु उनकी सराहना नहीं करते। इन सासारिक उपकारों में जिन-धर्म का अश भी नहीं है। जो इनमें धर्म बतलाते हैं, वे मूढ़ हैं।"[2] यह धार्मिक तथ्य है। इसकी अभिव्यक्ति करते हुए उनकी अन्तरात्मा में कभी कंपन नहीं हुआ। सासारिक उपकार में जो व्यावहारिक लाभ हैं उनकी उन्हें स्पष्ट अनुभूति थी। उसका उन्होंने मनोवैज्ञानिक विश्लेषण किया है। जो व्यक्ति किसी जीव को मृत्यु से बचाता है, उसके साथ उसका स्नेह-बन्ध हो जाता है। इस जीवन में ही नहीं, किन्तु आगामी जन्म में भी उसे देखते ही स्नेह उत्पन्न होता है।[3] जो व्यक्ति किसी जीव को मारता है उसके साथ उसका द्वेष-बन्ध हो जाता है। पर-जन्म में भी उसे देखकर द्वेष-भाव उभर आता है।[4] मित्र के साथ मित्रता और शत्रु के साथ

१—नव पदारथ : १२ ३-५,

संसार नां सुख तो छें पुद्गल तणां रे, ते तो सुख निश्चें रोगीला जांण रे।
ते करमां वस गमता लागें जीव ने रे, त्यां सुखां री बुधिवंत करो पिछांण रे॥
पांव रोगीलो हुवें तेहनें रे, अतंत मीठी लागे छें खाज रे।
एहवा सुख रोगीला छें पुन तणा रे, तिण सूं कदेय न सीझे आतम काज रे॥
एहवा सुखां सूं जीव राजी हुवें रे, तिणरे लागे छें, पाप करम रा पूर रे।
पछें दुक्ख भोगवे छें नरक निगोद में रे, मुगति सुखां सूं पडियो दूर रे॥

२—अणुकम्पा : ११, २८-२९

जितरा उपगार संसार तणां छें, जे जे करें ते मोह वस जांणों।
साध तो त्यांनें कदे न सरावें, संसारी जीव तिणरा करसी वखांणों॥
संसार तणां उपगार कीयां में, जिण धर्म रो अंस नहीं छे लिगार।
ससार तणां उपगार कीयां में, धर्म कहें ते तो मूढ गिंवार॥

३—अणुकम्पा : ११, ४३

जीव नें जीवां बचावें तिण सूं, बन्ध जाअें तिणरों राग सनेह।
ओ पर भव में ऊ आय मिलें तो, देखत पांण जागे तिण सूं नेह॥

४—अणुकम्पा : ११, ४४

जीव नें जीव मारें छे तिण सूं, बंध जाअें तिण सूं धेष धशेख।
वे पर भव में उ आय मिलें तो, देखत पांण जागें तिण सूं धेष॥

एक व्यक्ति उनसे चर्चा कर रहा था। उसकी बुद्धि स्वल्प थी। लोगों ने बहुत आग्रह किया कि आप इसे समझाइए। आपने कहा—मूग, मोठ और चने की दाल होती है, पर गेहूँ की दाल कैसे हो? जिसमें समझने की क्षमता ही नहीं उसे कोई कैसे समझाये?[१]

किसी ने कहा—समझदार व्यक्ति बहुत हैं, पर तत्त्व को समझनेवाले थोड़े क्यों? आपने कहा—मूर्ति बनाने योग्य पत्थर बहुत हैं, पर कारीगर कम हैं।[२]

एक व्यक्ति ने पूछा—जीव को नरक में कौन ले जाता है? आपने उत्तर दिया—पत्थर को नीचे कौन ले जाता है? वह अपने ही भार से नीचे चला जाता है। प्रश्न आगे बढ़ा—जीव को स्वर्ग में कौन ले जाता है? उत्तर मिला—काठ के टुकड़े को जल में कौन तिराता है? वह अपनी लघुता से स्वयं तैरता है। पैसे को पानी में डालो, वह डूब जायगा। उसी को तपा पीटकर कटोरी बनालो, वह पानी पर तैरने लगेगी।[३]

चिन्तन उनके लिये भार नहीं था, किन्तु उनके चिन्तन में गुरुत्व था। उनकी चर्या में भी चिन्तन था। एक व्यक्ति ने कहा—आप वृद्ध है, प्रतिक्रमण (आलोचना) बैठे-बैठे किया करें। आपने कहा—मैं खड़ा-खड़ा करता हूँ तो पिछले साधु बैठे-बैठे तो करेंगे, यदि मैं बैठा-बैठा करूँ तो सम्भव है, पिछले साधु लेटे-लेटे करने लगें।[४]

उनकी अनुभूति बड़ी तीव्र थी। वे परिस्थिति का अंकन बड़ी गहराई से करते थे। एक दिन स्वामीजी के साथ कोई व्यक्ति तत्त्व-चर्चा कर रहा था। बीच-बीच में वह अन्ट-सन्ट भी बोलता था। किसी ने कहा—'आप उस व्यक्ति से क्यों चर्चा करते हैं जो अन्ट-सन्ट बोलता है।' आपने कहा—"बेटा नन्हा होता है तब वह पिता की मूछ भी खींच लेता है, पगड़ी भी बिखेर देता है, किन्तु बड़ा होने पर वही पिता की सेवा-भक्ति करता है। जब तक यह मुझे नहीं पहचान लेता है तब तक बकवास करता है। मुझे समझ लेने पर यही मेरी भाव भरी भक्ति करेगा।"[५]

वे अपनी कार्यप्रणाली में स्वतंत्र चिन्तन उड़ेलते रहते थे। अनुकरणप्रियता उन्हें लुभा न सकी। अनुकरण-प्रेमियों की स्थिति का चित्र उनकी 'दृष्टान्त शैली' में इस प्रकार है—"एक साहूकार में व्यापारिक समझ नहीं थी। वह पड़ोसी

१—भिक्खु-दृष्टान्त : १५७, पृष्ठ ६५
२—वही १५८, पृष्ठ ६५
३—वही १४१-१४२-१४३, पृष्ठ ५९
४—वही २१२, पृष्ठ ८६
५—वही २८७, पृष्ठ ११२

की देखा-देखी करता। पड़ोसी जो वस्तु खरीदता उसे वह भी खरीद लेता। पड़ोसी ने सोचा—यह मेरी देखा-देखी करता है या इसमें अपनी समझ भी है। उसने उसे परखना चाहा और अपने बड़े से कहा—पंचाङ्गों का भाव तेज है उन्हें खरीद लो थोड़े दिनों में दूने दाम हो जायेंगे। पड़ोसी ने सुना और सैकड़ों से पंचाङ्ग मँगवा लिये। दिवाला निकालना पड़ा।[1]

वे मूल को बहुत महत्त्व देते थे। आचारहीनता उनके लिये असह्य थी। उससे भी अधिक असह्य थी श्रद्धाहीनता। कुछ व्यक्तियों ने कहा—भीखणजी हमें साधु या श्रावक नहीं मानते। आपने इस प्रसंग को समझाते हुए कहा—*कोयलों की राब काले बर्तन में पकाई गई, अमावस की रात पीसनेवाले अन्धे* और परोसनेवाले भी अन्धे। वे खाते जाते हैं और कहते जाते हैं—खबरदार! कोई काला 'कोयला' आये तो टाल देना। भला क्या टाले सारा काला ही काला है।[2]

१५ हेतुवाद के पथ पर

आचार्य भिक्षु तार्किक-शक्ति से सम्पन्न थे। उन्होंने साध्य-साधन का विवेचन केवल आगमों के आधार पर ही नहीं किया स्थान-स्थान पर उसे तर्क से भी पुष्ट किया है। धर्म की कसौटी पर कसते हुये उन्होंने बताया—धर्म मुक्ति का साधन है। मुक्ति का साधन मुक्ति ही हो सकती है बन्धन कभी उसका साधन नहीं होता। बन्धन भी यदि मुक्ति का साधन हो जाय तो बन्धन और मुक्ति में कोई भेद ही न रहे। ज्ञान दर्शन चारित्र और तप के सिवाय कोई मुक्ति का उपाय नहीं है।[3] इसलिये ये चार ही धर्म हैं। शेष सब बन्धन के हेतु हैं। जो बन्धन के हेतु हैं वे मोक्ष-धर्म नहीं हैं।[4] धर्म-मुक्ति का साधन है और स्वयं मुक्ति है। इसलिये कहा जा सकता है कि मुक्ति मुक्ति के द्वारा ही प्राप्य है बन्धन के द्वारा बन्धन होता है। उसके द्वारा मुक्ति

१—भिक्खु-दृष्टान्त : २८८ पृष्ठ ११३

२—वही : १४३ पृष्ठ ५९

३—अनुकम्पा : ४ १७ :

ग्यान दरसण चारित तप बिनां और मुगति रो नहीं उपाव हो।
छोटा मोटा उपगार संसार नां तिण थी छ्हे मुगति किम जाय हो॥

४—अनुकम्पा ४ १८ :

जितरा उपगार संसार नां छै ते तो सगलाई सावद्य जांण हो।
श्री जिन धर्म में आवें नहीं सूधी म करो तांण हो॥

प्राप्य नही है। बन्धन अनादि परिचित है और मुक्ति अपरिचित है।[1] इसलिये ससारी जीव बन्धन की प्रशसा करते हैं, किन्तु मुमुक्षु प्राणी उसकी सराहना नहीं करते।[2]

ससार क्या है ? शरीर-आत्मा का सम्बन्ध ही ससार है। सूक्ष्म शरीर (कार्मण शरीर) के द्वारा स्थूल शरीर की पुनरावृत्ति होती रहती है। इन्द्रिय और मन के विषयों का ग्रहण होता है। प्रिय मे राग और अप्रिय मे द्वेष होता है। राग द्वेष से कर्म-बन्ध, बन्ध से जन्म-मरण की आवृत्ति होती है। इस प्रकार ही ससार की आवृत्ति होती रहती है।

मोक्ष क्या है ? सूक्ष्म शरीर से मुक्ति। उसके बिना स्थूल शरीर नही होता। उसके अभाव मे इन्द्रिय और मन नहीं होते। इनके बिना विषय ग्रहण नहीं होता। अभाव में राग-द्वेष नहीं होते। राग-द्वेष बिना कर्म-बन्धन नहीं होता। बन्धन के बिना ससार नही होता, जन्म-मरण की आवृत्ति नहीं होती। मोक्ष से ससार नहीं होता और ससार से मोक्ष नही होता, इसलिए मोक्षार्थी व्यक्ति को न जन्म की इच्छा करनी चाहिये और न मृत्यु की। उसके लिये अभिलषणीय है सयम। सयम से जीवन-मृत्यु की आवृत्ति का निरोध होता है। इसलिये वह मोक्ष का उपाय है। वह मोक्ष का उपाय है, इसलिये मोक्ष है।

जो असयमी जीवन की इच्छा करता है, उसे धर्म का परमार्थ नहीं मिला है।[3] असंयममय जीवन और बाल-मरण—ये दोनो अनभिलषणीय हैं। सयममय जीवन और पण्डित-मरण—ये दोनो अभिलषणीय हैं।[4]

जिन्हें सब प्रकार से हिंसा करने का त्याग नहीं है, वे असयमी हैं। सयमी वे

१—जम्बूकुमार चरित : २-१५

२—अणुकम्पा ' ११ ३८

जितरा उपगार संसार तणां छै, जे जे करे ते मोह वस जांणों।
साधु तो त्यांने कदे न सरावें, संसारी जीव तिणरा करसो वखाणों॥

३—अणुकम्पा ८ १७

इविरती जीवां रो जीवणों वांछै, तिण धर्म रो परमारथ नहीं पायो।
आ सरधा अग्यांना री पगपग अटके, ते सांभलजों भवियण चित ल्यायो॥

४—अणुकम्पा ९ ३९

असंजम जीतब ने बाल मरण, यां दोयां री वंछां न करणी जी॥
पिंडत मरण ने संजम जीतब, यांरी आसा वछां मन धरणी जी॥

है जिसका जीवन हिंसा से पूर्णतः विरत हो।[1] लोक-दृष्टि में वह जीवन श्रेष्ठ है जो समाज के लिये उपयोगी हो। मोक्ष-दृष्टि में वह जीवन श्रेष्ठ है जो संयमी हो। असंयमी जीवन की इच्छा समाज की उपयोगिता हो सकती है धर्म नहीं। आचार्य भिक्षु ने कहा—"अपने असंयमी जीवन की इच्छा करना भी पाप है तब दूसरे के असंयमी जीवन की इच्छा करना धर्म कैसे होगा? मरने-जीने की इच्छा अज्ञानी करता है। ज्ञानी वह है जो समभाव रखे।"[2]

आचार्य भिक्षु ने साध्य-साधन का विविध पहलुओं से स्पर्श करके एक सिद्धान्त स्थापित किया कि जो कार्य करना साध्य के अनुकूल नहीं है उसे करवाना व करनेवाले का अनुमोदन करना भी साध्य के अनुकूल नहीं हो सकता। कृत कारित और अनुमति—तीनों अभिन्न हैं।

१—(क) जो कार्य करना धर्म है उसे करवाना और उसका अनुमोदन भी धर्म है।
   (ख) जो कार्य करवाना धर्म है उसे करना और उसका अनुमोदन भी धर्म है।
   (ग) जिसका अनुमोदन धर्म है उसे करना और कराना भी धर्म है।

२—(क) जो कार्य करना धर्म नहीं उसे करवाना और उसका अनुमोदन भी धर्म नहीं।
   (ख) जो कार्य करवाना धर्म नहीं उसे करना और उसका अनुमोदन भी धर्म नहीं।
   (ग) जिसका अनुमोदन धर्म नहीं उसे करना और कराना भी धर्म नहीं। हिंसा करना पाप है करवाना पाप है और उसका अनुमोदन भी पाप है।[3] अहिंसा का पालन करना धर्म है करवाना धर्म है और उसके पालन का अनुमोदन करना भी धर्म है।

१—अनुकम्पा : ९.४

ए असंजम तणा जीव हणियां त्यांरो असंजम जीतब वांछ्यो की।
नरें सावद्य त्याग किया त्यांरो संजम जीतब रह सिखायो जी॥

२—अनुकम्पा : ९.१४

आपणो वांछे तो पाप पर नो कुण पाडे संसार।
मरणो जीवणो वांछे अग्यानी समभाव राखे ते ग्यानी॥

३—अनुकम्पा : ४.१. १

मारणो मरावणो भलो जांणियां तीनूं करणां पाप।
दया पाळ्यां ने कै वले न तीनूं करण तणा उपाय॥

कुछ लोग कहते हैं, मरते जीवों को बचाना धर्म है। आचार्य भिक्षु ने कहा—धर्म का सम्बन्ध जीवन या मृत्यु से नहीं है। उसका सम्बन्ध सयम से है। एक व्यक्ति स्वय मरने से बचा, दूसरे ने उसके जीवित रहने में सहयोग दिया और तीसरा उसके जीवित रहने से हर्षित हुआ, इन तीनों में धर्मी कौन सा होगा ? जो जीवित रहा उसका भी अव्रत नही घटा और सहयोग करनेवाले का भी व्रत नहीं बढा, फिर ये धर्मी कैसे होगे ? जीना, जिलाना और जीने का अनुमोदन करना, ये तीनों समान हैं।[1]

जिसका खाना धर्म नहीं है, उसे खिलाना भी धर्म नहीं है और उसके खाने का अनुमोदन करना भी धर्म नहीं है। जिसका खाना धर्म है, उसे खिलाना भी धर्म है और उसका अनुमोदन करना भी धर्म है। आचार्य भिक्षु ने कर्तव्य के धर्माधर्म-पक्ष का निर्णय करने में उक्त तर्क शैली का सर्वत्र उपयोग किया है। उन्होंने सयमी या मुनि को मानदण्ड मानकर सबको मापा। सयमी जिस कार्य का अनुमोदन कर सकता है, वह धर्म है, क्योंकि वह जिस कार्य का अनुमोदन कर सकता है, उसे कर भी सकता है और करा भी सकता है। वह जिस कार्य का अनुमोदन नही कर सकता वह धर्म नहीं है, क्योंकि जिस कार्य का वह अनुमोदन नहीं कर सकता, उसे कर भी नहीं सकता और करा भी नहीं सकता। सयमी असयम और उसके साधनों का अनुमोदन नहीं कर सकता। इसलिए असंयम धर्म नहीं है। वह सयम और उसके साधनों का ही अनुमोदन कर सकता है, इसलिये सयम ही धर्म है। कुछ साधु बडे जीवों की रक्षा के लिये छोटे जीवों को मारने में धर्म कहते थे। आचार्य भिक्षु ने आश्चर्य के स्वर में कहा—जो साधु कृत, कारित और अनुमति, मनसा, वाचा, कर्मणा से अहिंसक हैं, जीव मात्र की दया का पालन करते हैं, वे सभी जीवों के रक्षक होकर जीवों को मारने में धर्म किस

१—अणुकम्पा : ५ २२-२५

एक पोतें बच्यो मरवा थकी, दूजें कीधो हो तिणरें जीवण रो उपाय।
तीजों पिण हरख्यों उण जीवीयां, यां तीनां में हो कुण सुध गति जाय॥
कुसले रह्यो तिणरें इविरत घटी नहीं, तो दूजा नें हो तुमें जांणजो एम।
भले जांणे तिणरें विरत न नीपनीं, ए तीनूंई ते सुध गति जासी केम॥
जीवीयां जीवायां भलो जांणीयां, तीनूंई हो करण सरीषा जांण।
कोई चतुर होसी ते परखसी, अण समझ्यां हो करसी तांणा तांण॥
छ काया रो वांछें मरणो जीवणों, ते तो रहसी हो संसार मझार।
ग्यांन दरसण चारित तप भला, आदरीयां हो आदरायां खेवो पार॥

न्याय से कहते हैं ?[1] जीवों को मारकर जीवों को पोषा जाता है यह संसार का मार्ग है पर इसमें जो साधु धर्म बतलाते हैं वे पूरे मूढ़ हैं अज्ञानी हैं।[2] जो साधु जीव-हिंसा में धर्म बतलाते हैं उनके तीन महाव्रतों का भंग होता है। जीव हिंसा में धर्म बतलाना हिंसा का अनुमोदन है इसलिये उनका अहिंसा महाव्रत भग्न होता है। भगवान् ने हिंसा में धर्म नहीं कहा है। जीवों का पोषण करना अहिंसा-धर्म नहीं यह सत्य है। इसके विपरीत एक जीव के पोषण के लिए दूसरे जीव को मारना दया धर्म है यह कहना असत्य है। इस दृष्टि से उनका दूसरा सत्य महाव्रत भग्न होता है। जिन जीवों के मारने में धर्म की प्ररूपणा करते हैं वे उन जीवों की चोरी करते हैं। क्योंकि वे जीव अपने प्राण हरण की स्वीकृति नहीं देते और बिना अनुमति के उनके प्राण लेना चोरी है। जीवों को मारने में भगवान् की आज्ञा नहीं है। जीवों को मारने में धर्म बतलानेवाले भगवान् की आज्ञा की भी चोरी करते हैं। इसलिए उनका तीसरा अचौर्य महाव्रत टूटता है। इस प्रकार जीव हिंसा में धर्म का प्ररूपण करनेवालों के तीनों महाव्रत टूटते हैं।[3]

१—अनुकम्पा : ९.४१

जिणियै मार छ काय रा साथ जोरी दया जिणेश्वर राखी जी।
ते छ काय रा पीहर छ काय नें मारयां धर्म किसें लेखें भाखें जी॥

२—अनुकम्पा : ९.२५

जीवां नें मारे जीवां नें पोखें ते तो मारग संसार नों जाणो जी।
तिण मांहि साध धर्म बतावें ते पूरा छै मूढ़ अयाणो जी॥

३—अनुकम्पा : ९.११-१२

केइ साध री बिरुद् बतावें लोकां में वले वाजें भगवंत रा भगता जी।
तिण हिंसा मांहि धर्म परूपें ज्यांरा तीन वरत भागे जावता जी॥
छ काय मारयां मांहि धर्म परूपें जामें हिंसा छ काय री लागें जी।
तीन करण री हिंसा अनुमोदी तिण सूं पेंहलो महाव्रत भागें जी॥
हिंसा में धर्म तो जिन कह्यो नांही हिंसा में धर्म कह्यां झूठ लागें जी।
इसड़ी झूठ निरंतर बोलें, ज्यांरो बीजोई महाव्रत भागें जी॥
ज्यां जीवां नें मारयां धर्म परूपें त्यां जीवां री अदत्त लागी जी।
वले आग्या लोपी श्री अरिहंत री, तिण सूं तीजोई महाव्रत भागें जी॥

जीव-हिंसा में धर्म वतानेवाले अपने को दया-धर्मी कहते है, पर वास्तव मे वे हिंसा-धर्मी है।[1]

साध्य की मीमासा में उन्होने वतलाया—जीवो को वचाना, यह धर्म का साध्य नही है। एक व्यक्ति मरते जीवों को वचाता है और एक व्यक्ति जीवो को उत्पन्न कर उन्हें पाल-पोपकर वडा करता है। यदि धर्म होगा तो इन दोनों को होगा और नहीं होगा तो दोनो को नही। वचानेवाले की अपेक्षा उत्पन्न करनेवाला वडा उपकारी है, किन्तु ये दोनो ससार के उपकारी है। इन उपकारों में केवली-भापित धर्म नही है।[2] आचार्य भिक्षु ने कहा—सावद्य-दया धर्म नही है। तर्क की कसौटी पर कसते हुए उन्होने कहा—धर्म का मूल दया या अहिंसा है। दान देने के लिये जीव-वध किया जाता है, उस सावद्य-दान से दया उठ जाती है और जीवो को वचाने के लिये दया की जाती है, उस सावद्य-दया से दान उठ जाता है। जो लोग सावद्य-दान देने में और जीव वचाने में धर्म मानते हैं, उनके दान के सामने दया का सिद्धान्त नही टिकता और उनकी दया के सामने दान का सिद्धान्त नही टिकता। दान के लिये जीव-वध करता है, उसके दिल में दया नहीं रहती, और दान देने के लिये वध किये जाने-वाले जीवो को वचाता है तो दान नही होता।

सावद्य-दान और सावद्य-दया, ये दोनों मुक्ति के मार्ग नही हैं। सावद्य-दान में जीवो का वध होता है, इसलिए वह मुक्ति का मार्ग नही है। जीवों की रक्षा के लिए सावद्य-दान में रुकावट डाली जाए तो जिन्हें दान दिया

१—अणुकम्पा ९ ३४

त्यांने पूछ्यां कहें म्हें दयाधर्मी छां, पिण निर्स्वे छ काय रा घाती जी।
त्यां हिंसाधर्म्यां ने साध सरधे केह, ते पिण निर्स्वे मिथ्याती जी॥

२—अणुकम्पा ११, ४०-४१-४२

किण ही जाव नें खप कर नें वचायो, किण ही जीव उपजाय नें कीधो मोटों।
जो धर्म होसी तो दोयां नें धर्म होसी, जो तोटों होसी तो दोयां ने तोटों॥
वचावण वाला विचें तो उपजावण वालों, सांप्रत दीसें उपगारी मोटों।
यांरो निरणो कीयां विण धर्म कहें छें, त्यांरों तो मत निकेवल खोटों॥
वचावण वालो ने उपजावण वालों, ऐं तो दोनू संसार तणां उपगारी।
एहवा उपगार करें आमां साहां, तिण में केवली रो धर्म नहीं छे लिगारी॥

बाधा उसके जीवन निर्वाह में अन्तराय होता है। इसलिए यह सावद्य-दया भी मुक्ति का मार्ग नहीं है।[1] सावद्य-दान से दया की उत्थापना होती है और सावद्य-दया से अभय दान का लोप होता है, इसलिये ये दोनों लौकिक हैं। जहाँ किसी की हिंसा नहीं होती वह दया और संयमी-दान ये ही मोक्ष के मार्ग हैं। भगवान् ने इन्हीं को धर्म-सम्मत कहा है।[2]

: ६ श्रद्धावाद के पथ पर

आचार्य भिक्षु के पास श्रद्धा का भी अमित बल था। वे जितने तार्किक थे उतने ही श्रद्धालु। श्रद्धा और तर्क के संगम में ही व्यक्ति का दृष्टिकोण पूर्ण बनता है। कुसुम्भा स्वयं रक्त कर दूसरो को रंगता है। भक्त-हृदय का भीनापन दूसरों को स्निग्ध कर देता है। आचार्य भिक्षु की अटल आस्था इस कोटि की है कि वे भगवान् महावीर और उनकी वाणी पर स्वयं को न्योछावर कर सकते हैं। उनके समर्पण की भाषा यह है— 'प्रभो! आपने सम्यक् दर्शन ज्ञान चारित्र और तप को मुक्ति का मार्ग कहा है। मैं इनके सिवा और किसी तत्त्व को धर्म नहीं मानता। मैं अर्हन्त को देव निर्ग्रन्थ को गुरु और आपके

१—व्रताव्रत : १२ ४४-४७

भेषधारी थापे सावद्य दान ने, तिण दान सूं दया उठ जाय हो।
वले दया कहे छ काय बचावीया, तिण सूं दान उथप गयो ताय हो॥
छ काय जीवां में जीवां मारने, करे दान ते संसार रे मांय हो।
तिण में छ काय जीवां तणी, मन में दया रहे नहीं कांय हो॥
कोई दान देवें तिण ने नरक में, जीवां बचावें छ काय हो।
ते जीव बचायां दान उथपे, सां सूं न्यारा रह्या कुगुरु पाय हो॥
छ काय जीवां ने मारे दान दे, तिण दान सूं मुगत न जाय हो।
वले फिर बचाय छ काय ने, तिण सूं धर्म कहें नहीं ताय हो॥

२—व्रताव्रत : १२ ४८

सावद्य दान दीधां दया उथपे, सावद्य दया सूं उथपे अभयदान हो।
ते सावद्य दया दान संसारनो, त्यांनें ओलखें ते बुधवान हो॥

३—व्रताव्रत : १२ ४९

त्रिविधे त्रिविधे छ काय हणवी नहीं, आ छे दया खरी जिण राय हो।
दान देवो सुपातरने, यांसूं तिण सूं मुगत सुखे सुखे जाय हो॥

द्वारा प्ररूपित मुक्ति-मार्ग को ही धर्म मानता हूँ। मेरे लिये और सब भ्रमजाल है। मेरे लिये आपकी आज्ञा ही सर्वोपरि प्रमाण है।"[1]

"जिसने आपकी आज्ञा को पहचान लिया, उसने आपके मौन को पहचान लिया जिसने आपके मौन को पहचान लिया। उसने आपको पहचान लिया। जिसने आपको पहचान लिया, वह दुर्गति से बच गया। जिसने आपकी आज्ञा को नहीं पहचाना, उसने आपके मौन को नही पहचाना। जिसने आपके मौन को नही पहचाना, उसने आपको नही पहचाना। जिसने आपको नहीं पहचाना, वह दुर्गति से नही बचता। कई लोग आपकी आज्ञा के बाहर भी धर्म कहते है और आपकी आज्ञा में भी पाप कहते हैं। वे दोनों ओर मे डूब रहे हैं। आपका धर्म आपकी आज्ञा मे है। आपकी आज्ञा के बाहर आपका धर्म नहीं है। जो जिन-धर्म को जिन-आज्ञा के बाहर बतलाते है, वे मूढ हैं। आप अवसर देखकर बोले, और अवसर देखकर मौन रहे। जिस कार्य में आपकी आज्ञा नही है, उस कार्य में धर्म नहीं है।"[2]

सूरदास और मीरा के सर्वस्व कृष्ण तथा तुलसी के सर्वस्व राम थे, वैसे ही भिक्षु के सर्वस्व महावीर थे। वे स्वय को महावीर के सन्देश का वाहक मानते थे। एक बार एक व्यक्ति ने पूछा—महाराज! आप इतने जनप्रिय

१—वीर सुनो मोरी वीनती ' १ ६-७

अध्येन अठावीसमां उत्तराध्येन में, मोक्ष मार्ग कह्या च्यार।
ग्यान दर्शन चरित्र नें तप विना, नहि श्रद्ध धर्म लिगार॥
देव अरिहत निग्रंथ गुरु माँहरे, केवलीए भाषित धर्म।
ए तीनूं ई तत्व सैंठाकर झालीया, और छोड़ दिया सहु भर्म॥

२ व्रताव्रत ' १२ ३९-४३

जिण ओलख लीधी आपरी आगन्यां, जिण ओलख लीधी आपरी मून हो।
तिण आप नें पिण ओलखे लीया, तिणरी टलगी माठी२ जून हो॥
जिण आग्या न ओलखी आपरी, आपरी नहीं ओलखी मूंन हो।
तिण आप ने ओलख्या नहीं, तिणरें वधसी माठी२ जून हो॥
केई जिण आगन्यां वारें धर्म कहें, जिण आग्या मांहे कहें छे पाप हो।
ते दोनू विध बूडें छें बापड़ा, कूड़ों कर२ अग्यांनी विलाप हो॥
आपरो धर्म आपरी आग्या मझे, आपरो धर्म नहीं आपरी आग्या वार हो।
जिण धर्म जिण आग्या वारे कहें, ते पूरा छे मूढ़ गिंवार हो॥
आप अवसर देखीने वोलीया, आप अवसर देखे साझी मून हो।
जिहां आप तणी आगन्यां नहीं, ते करणी छे जावक जबन हो॥

क्यों है ? आपने कहा—एक पतिव्रता स्त्री थी। उसका पति विदेश में था। बहुत दिनों से उसे पति का कोई समाचार नहीं मिला। एक दिन अकस्मात् एक समाचारवाहक आया और उसे उसके पति का सन्देश दिया। उसे अपार हर्ष हुआ। उसके लिये वह आकर्षण का केन्द्र बन गया। हम भगवान् के सन्देशवाहक हैं। लोग भगवान् के भक्त हैं भगवान् का सन्देश सुनने के लिए आतुर हैं। हम गाँव-गाँव में जाते हैं और लोगों को भगवान् का सन्देश सुनाते हैं। हमारे प्रति जनता के आकर्षण का यही हेतु है।[1]

आचार्य भिक्षु की श्रद्धा आलोचक-बुद्धि से जुड़ी हुई थी। उन्होंने अनेक गुरुओं को देखा-परखा। आखिर स्थानकवासी सम्प्रदाय के आचार्य रघुनाथजी को अपना गुरु चुना। उनके पास जैनी-दीक्षा स्वीकार की। आठ वर्ष तक उनके संघ में रहे। साधु परम्परा और आचार में कुछ मतभेद हुआ। साध्य और साधन की विचारधारा भी नहीं मिल सकी। फलत वे अपने आचार्य से पृथक हो गये। गुरु का उनके प्रति स्नेह था और उनका गुरु के प्रति। फिर भी आलोचक बुद्धि आचार भेद को सहन न कर सकी। वे अपने आचार्य के प्रति श्रद्धा रखते हुए भी उनके विचारों की आलोचना किये बिना नहीं रहे।

भगवान् महावीर से बढ़कर उनके लिए कोई आराध्य नहीं था। एक ओर उन्होंने कहा—मुझे भगवान् महावीर का ही आधार है और किसी का नहीं। दूसरी ओर वे भगवान् महावीर की भी एक जगह आलोचना करते हैं। भगवान् ने गोशालक को बचाने के लिये शीतल तेजोलेश्या नामक योगशक्ति का प्रयोग किया और वैशम्पायन ऋषि गोशालक को उष्ण तेजोलेश्या से मार रहा था उससे उसे उबार लिया। आचार्य भिक्षु की साध्य-साधन की मीमांसा से यह कार्य आत्ममुक्ति का प्रमाणित नहीं होता। इसलिए उन्होंने कहा—इस प्रसंग में भगवान् की वीतराग-साधना में चूक हुई, क्योंकि लब्धि का प्रयोग शुद्ध साधन नहीं है। इस आलोचना के लिये उन्हें बहुत कुछ सहना पड़ा। उनके उत्तराधिकारी आचार्य भारमलजी ने उनसे प्रार्थना की—गुरुदेव! यह पद बहुत ही कटु है। आपने कहा—कटु तो है पर सच से परे तो नहीं? भारमलजी ने कहा—नहीं। तब आपने कहा—रहने दो। यह निर्भीक आलोचना क्या की मानो अपने लिये उन्होंने विरोध का मोर्चा खड़ा कर लिया। पर इससे उनकी

१—भिक्खु-दृष्टान्त : ८७ पृष्ठ १४

२—अनुकम्पा : ६.१२

छ लेस्या हुँती जद वीर में जी हूंता आठूं कर्म।
छद्मस्थ चूक तिण समें जी मूर्ख थापें धर्म॥

सचाई का स्रोत फूट पडता है। श्रद्धा और आलोचना में कोई खाई नही है, यह उन्होने प्रमाणित कर दिया।

"शत्रोरपि गुणा वाच्या, दोषा वाच्या गुरोरपि"—यह विशाल चिन्तन उनकी इस कृति से साकार बन गया।

: ७ . धर्म का व्यापक स्वरूप

जैन-धर्म पर आचार्य भिक्षु की अगाध श्रद्धा थी, पर वे जैन-धर्म को सकुचित अर्थ में नही मानते थे। उनकी वाणी है—भगवान् का मार्ग राजमार्ग है। वह कोई पगडडी नही जो बीच में ही रुक जाय। वह तो सीधा मोक्ष का मार्ग है।[1]

वे धर्म को एक मानते थे। मिथ्या दृष्टि की निरवद्य प्रवृत्ति धर्म है, इसका दृढतापूर्वक समर्थन कर उन्होने जैन-परम्परा के उदार दृष्टिकोण को बहुत ही प्रभावशाली बना दिया। अमुक सम्प्रदाय का अनुयायी बनने से ही धर्म होता है अन्यत्र नही, इस भ्रमपूर्ण मान्यता का उनकी स्पष्ट वाणी से स्वत खण्डन हो गया।[2] धर्म और सम्प्रदाय एक नही है, इस सचाई की उन्हें गहरी अनुभूति थी। उन्होंने कहा—निरवद्य प्रवृत्ति धर्म है, भले फिर वह जैन की हो या जैनेतर की। सावद्य प्रवृत्ति अधर्म है, भले फिर वह जैन की हो या जैनेतर की।[3]

जो व्यक्ति जैन-दर्शन की व्याख्या को अक्षरश न माने, उसमें वैराग्य और सदाचार की भावना नही जागती, यह मानना दुराग्रह की चरम सीमा है। जैन-दर्शन सचमुच ही धर्म की अखण्डता को स्वीकार करता है। सम्प्रदाय धर्म को विभक्त नही कर सकते। दृष्टिकोण सम्यक् हो जाता है—ज्ञान, चारित्र और तप की सम्यक् आराधना होती है, तो व्यक्ति मोक्ष प्राप्त कर लेता है, भले फिर वह किसी भी वेष या सम्प्रदाय में हो। इसके प्रमाण गृहलिंग सिद्ध और अन्यलिंग सिद्ध हैं। सम्यक् दर्शन, चारित्र आदि की पूर्णता प्राप्त होने पर गृहस्थ के वेष में भी और जैनेतर सम्प्रदाय में भी मुक्ति प्राप्त हो सकती

१—आचार्य सन्त भीखणजी पृ० ८५

२—सूत्रकृताङ्ग १।१।१९
आगारमावसन्ता वि अरण्णा वा वि पव्वया।
इमं दरिसणमावन्ना सव्वदुक्खा विमुच्चई॥

३—भ्रम विध्वसनम् : मिथ्यात्वी क्रियाधिकार, पृष्ठ १-४९

है ।[1] जैन-आगमों में 'असोच्चा' केवली का वर्णन है ।[2] जिस व्यक्ति को धर्मोपदेश सुनने का अवसर नहीं मिला किन्तु सहज भाव से ही सरलता क्षमा सन्तोष आदि की आराधना करते-करते जो भावना-बल से सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र पा मुक्त हो जाता है उसके क्रमिक विकास का हेतु धर्म की आराधना है सम्प्रदाय विशेष का स्वीकार नहीं ।[3]

आचार्य भिक्षु की व्याख्या में जो सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र और तप है वही जैन धर्म है, और जो जैन धर्म है वही सम्यग्दर्शन ज्ञान, चारित्र और तप है। कुछ लोग मिथ्या दृष्टि या जैनेतर व्यक्ति की क्रियामात्र को अशुद्ध मानते थे। आचार्य भिक्षु ने उनके अभिमत की आलोचना की। आपने कहा—जो लोग मिथ्या दृष्टि की निरवद्य क्रिया को भी अशुद्ध मानते हैं उनकी बुद्धि सही मार्ग पर नहीं है। मिथ्या दृष्टि की निरवद्य क्रिया में कोई गुण नहीं—यों कहने वालों की बुद्धि भ्रष्ट हो गई

१—नन्दीसूत्र : ४२
अन्नलिंग सिद्धा, गिहीलिंग सिद्धा

२—भगवती : ९।३१

३—मिथ्यात्वी करणी निर्णय : २.४६-४७-४९

इण रीते पहलम तो समकत पामीयो रे,
निर्मल ज्ञान रो हुवो उदीय गिनान रे ।

पछै अनुक्रमे हुवो केवली रे,
पछै गयो पांचमी गति परधान रे ॥

असोचा केवली हुवा इण रीत सूं रे,
मिथ्याती थकां करणी तिण कीध रे ।

धर्म पखम पख्या मिथ्याती थकां रे,
तिण सूं अनुक्रमे सिवपुर लीध रे ॥

ज्यो जैसा परिणाम भला हुंता नहीं रे
तो किम किम पामत निर्मल ज्ञान रे ।

इत्यादिक जीवां सूं हुवो समकती रे,
अनुक्रमे पोहतो छै निरवांण रे ॥

है।[1] आचार्य भिक्षु ने कहा—भगवान् का धर्म समुद्र की तरह विशाल और आकाश की तरह व्यापक है। जो धर्म शुद्ध, नित्य और शाश्वत है, भगवान् ने जिसकी व्याख्या की है, वह एक शब्द में है अहिंसा। भगवान् ने कहा—प्राण, भूत, जीव और सत्वों को मत मारो, उनपर अनुशासन मत करो, उन्हें दास-दासी बनाकर अपने अधीन मत करो। उन्हें परिताप मत दो, उन्हें कष्ट मत दो, उन्हें उपद्रव मत करो, यही धर्म ध्रुव, नित्य और शाश्वत है।[2] यह धर्म सबके लिये है—जो धर्म के आचरण के लिये उठे हैं या नहीं उठे हैं, जो धर्म सुनना चाहते हैं या नहीं चाहते हैं, जो प्राणियों को दण्ड देने से निवृत्त हुए हैं या नहीं हुए हैं, जो उपाधि-युक्त है या उपाधि-रहित हैं, जो संयोग से बंधे हुए हैं या नहीं हैं।[3]

आचार्य भिक्षु ने अपने जीवन को भगवान् की इस वाणी का सफल अनुवाद बना डाला।

८· आग्रह से दूर

आचार्य भिक्षु में अपने सिद्धान्त के प्रति जितना आग्रह था, उतना ही दुराग्रह से दूर रहने का तीव्र प्रयत्न। उन्होंने यही सीख दी—खींचातानी से बचो, कोई तत्त्व समझ में न आए तो दुराग्रह मत करो, बहुश्रुत व्यक्तियों से

१—मिथ्यात्वी करणी निर्णय १ २९-३०

निरवद करणी करैं पहिले गुण ठाणें, तिण करणी नें जावक जाणें असुध।
इसड़ी परूपणा करैं अग्यांनी, तिणरी भिष्ट हुई छै सुध्रने बुध॥
पहिले गुण ठाणें निरवद करणी करे छे, तिणरी करणी सराया में दोषण जाणें।
अतिचार लागो कहें समकत मांही, तिणरो न्याय जाण्यां विन मूरख तांणें॥

२—आचाराङ्ग १।४।१

से बेमि जे अइया, जेय पडुप्पन्ना, जे य आगमिस्सा अरहंता भगवंतो ते सव्वे एवमाइक्खंति, एवं भासंति, एव पण्णविंति, एवं परूविंति सव्वे पाणा, सव्वे भूया, सव्वे जीवा, सव्वे सत्ता, न हतव्वा, न अज्जावेयव्वा, न परिघेतव्वा, न परियावेयव्वा, न उद्दवेयव्वा एस धम्मे सुद्धे, णिइए, सासए।

३—आचाराङ्ग १।४।१

उट्ठिएसु वा, अणुट्ठिएसु वा, उवट्ठिय-अणुवट्ठिएसु वा, उवरयदंडेसु वा, अणुवरयदंडेसु वा, सोवहिएसु वा, अणोवहिएसु वा, संजोगरएसु वा असंजोगरएसु वा।

समझो फिर भी समझ में न आये तो उसे ज्ञानीगम्य कहकर छोड़ दो। चिन्तन भले करो पर दुराग्रह से बचते रहो।[1] उन्होंने यह सीख ही नहीं दी उनके चरण भी इसी पथ पर आगे बढ़े।

उन्होंने एक दिन कहा—यह प्रकार का श्रमण-धर्म है। तब पास बैठा भाई बोल उठा—नहीं यह प्रकार का यति-धर्म है। आपने कहा—भले इस प्रकार का महात्मा-धर्म कहो मुझे क्या आपत्ति है।[2] शब्दों के जाल में फँसनेवाला तत्त्व तक नहीं पहुँच पाता। उन्होंने कहा—दया दया सब लोग पुकारते हैं और यह सच है कि दया धर्म है पर मुक्ति उन्हें ही मिलेगी जो दया को पहचानकर उसका पालन करेंगे।[3]

वे शाब्दिक उलझन में पड़नेवालों को सदा सावधान करते रहे। उनकी बोध-वाणी है कि गाय भैंस आक और थूहर—इन चारों के दूध होता है। नाम को पकड़नेवाला गाय के दूध की जगह आक का दूध पी ले तो परिणाम क्या होगा? हमें तत्त्व तक पहुँचना चाहिये भले फिर उसका माध्यम कोई भी शब्द बने।[4]

कोरे शब्दों को पकड़नेवालों की स्थिति का चित्रण उनकी कृतियों में अनेक स्थलों पर मिलता है।

एक सास ने बहू से कहा—जाओ पीपल ले आओ। बहू गई और मोटी रस्सी से पीपल के तने को बाँध उसे खींचने लगी पर वह एक इंच भी नहीं

१—मर्यादा-मुक्तावली
२—भिक्खु-दृष्टान्त : २१३ पृष्ठ ८९
३—अनुकम्पा : ८ दू. १

दया दया सहु को कहै, ते दया धर्म छै ठीक।
दया ओलख नें पालसी त्यांनें मुगत नजीक॥

४—अनुकंपा : १ दू. १४

अनुकंपा रे नामरे जीवों भूला जन।
जिणवर रो धर्म माहिली समकत पाय रतन॥
गाय भैंस आक थोर नौ ए च्यारूं ई दूध।
तिम अनुकंपा जाणजो राखे मन में सूध॥
आक दूध पीधां थकां सुखा करे जीव काय।
ज्यूं सावद्य अनुकंपा कीयां पाप कर्म बंधाय॥
मोलेद मत भूलजो अनुकंपा रे नाम।
कीजो अंतर पारखा, ज्यूं सीझे आतम काम॥

सरका। उसे खीचते-खीचते उसके हाथ छिल गये। वह साथ-साथ गाती गई कि 'पीपल चलो मेरी साम तुझे बुला रही है।' गाते-गाते वह रोने लगी। एक समझदार आदमी आया और उसने उससे पूछा—बहन! रोती क्यों हो? उसने सारा हाल कह सुनाया। उसने उसे साम का आशय समझाया और कहा—बहन! पीपल नहीं चलेगा। इसकी एक डाली तोड ले जाओ, तुम्हारा काम बन जायगा।[1]

शब्दों की पकड न हो, यह अनाग्रह का एक पक्ष है। इसका दूसरा पक्ष है आवेशपूर्ण तत्त्व-चर्चा से बचाव करना। स्वामीजी के पास कुछ लोग आये। उनमें आपस में चर्चा चली कि पर्याप्ति और प्राण जीव है या अजीव? किसी ने कहा—जीव हैं और किसी ने कहा अजीव। इस प्रकार आपस में खींचातानी होने लगी। उन्होंने अन्त में स्वामीजी से पूछा—गुरुदेव! पर्याप्ति और प्राण जीव है या अजीव? स्वामीजी ने उनमें चल रही खींचातानी को देखकर कहा—जिस चर्चा में आग्रह हो, उसे छोड देना चाहिये और चर्चा क्या कम हैं?[2]

आग्रह से मुक्ति मिल गई।

६ : कुशल पारखी

आचार्य भिक्षु वैयक्तिक जीवन में जितने आध्यात्मिक थे, उतने ही सामुदायिक जीवन में व्यावहारिक थे। उनके जीवन में विनोद हिलोरे भरता था। वे कभी-कभी तत्त्व के गहराई को विनोद के तत्त्वों से भर देते थे।

एक चारण को लोगो ने उभाडा कि तू भक्तों को लपसी खिलाता है उसमें भीखणजी पाप मानते हैं। वह स्वामीजी के पास आया और बोला—भीखणजी! मैं भक्तों को लपसी खिलाता हूँ, उसमें क्या होता है? स्वामीजी ने कहा—जितना गुड डाला जाता है, उतनी ही मिठास होती है।[3] वह इस तत्त्व को ही पचा सकता था।

एक व्यक्ति ने ब्राह्मणों से कहा—भीखणजी दान देने का निषेध करते हैं। इसलिये हम उन्हें दान नहीं देंगे। वे स्वामीजी के पास आये और अपना रोष प्रकट किया। स्वामीजी ने कहा—जिन लोगों ने ऐसा कहा है वे अगर पाँच रुपये दें तो भी मेरी मनाही नहीं है। मुझे मनाही करने का त्याग है।[4]

१—अणुकंपा ८ ३२

किण हीक ठोडें जीव बतावे, किण हीक ठोड संका मन आणें।
समझ पड्यां विण सरधा परूपे, पीपल बान्धी मूर्ख ज्यूं ताणें॥

२—भिक्खु-दृष्टान्त २५६, पृष्ठ १०२

३—वही २०, पृष्ठ ११

४—वही ९५, पृष्ठ ९४, ९५

उनका रोष खुशी में परिणत हो गया। सत्य का रहस्य उतना ही खोलना चाहिए जितना सामनेवाले को दीख सके।

धर्म को उन्होंने सबके लिये समान माना। धर्म करने का सबको समान अधिकार है इसका समर्थन किया। फिर भी कहीं-कहीं उनके विचारों में जो जातिवाद के समर्थन की छाया दीख पड़ती है वह व्यावहारिकता से संघर्ष मोल न लेने की वृत्ति है। उन्होंने सामाजिक व्यवहार को तोड़ने का यत्न नहीं किया। घृणित मानी जानेवाली जातियों के घरों से भिक्षा लेने को अनुचित बतलाया।[1] वे परमार्थ और व्यवहार की सीमा को धूप और छाँह की भाँति मानते थे जो साथ रहते हुए भी कभी नहीं मिलते।[2]

१० : क्रांत वाणी

आचार्य भिक्षु मानव थे। वे मानवीय दुर्बलताओं से सर्वथा मुक्त भी नहीं थे। उनकी विशेषता इसीमें है कि वे उनसे मुक्त होना चाहते थे। उनकी वाणी में कटुता है प्रहार है और बाणों की वर्षा है। वे व्यक्तिगत आक्षेपों से बहुत बचे हैं पर अवगुण की बखियां उधाड़ते समय वे बहुत ही उग्र बन जाते हैं। एक व्यक्ति ने *कहा—भीखणजी ! कुछ लोग आपमें बहुत दोष निकालते हैं।* आपने कहा—दोषों को रखना नहीं है। उन्हें निकाल फेंकना है। कुछ प्रयत्न मैं करता हूँ और कुछ वे कर रहे हैं। वे मेरा सहयोग ही तो कर रहे हैं।[3] इसमें उनकी दुर्बलताओं पर विजय पाने की सतत साधना बोल रही है।

आचार्य भिक्षु असंयम और संयम में भेद रेखा खींचते समय कभी-कभी ऐसे प्रतीत होते हैं मानो उनका दिल दया से द्रवित न हो। बहुधा प्रश्न पैदा होता है कि इस विचारधारा का सामाजिक जीवन पर क्या असर होगा? प्रश्न अहेतुक भी नहीं है। संसार के प्रति उदासीनता लानेवाला विचार सामाजिक व्यवस्था में कहीं बाधा भी डाल सकता है। पर इन सबके उपरान्त

१—साधु-आचार री चौपाई

२—अनुकम्पा : ९.७

हिंसा री करणी में दया नहीं छै, दया री करणी में हिंसा नाहीं जी।
दया नें हिंसा री करणी छै न्यारी ज्यूं तावड़ो नें छांहीं जी॥

३—भिक्षु-दृष्टान्त : ११ पृष्ठ ९

४—अनुकम्पा : ४ ११-२१

ग्यांन दरसण चारित्त नें तप चारों ए कोई उपगार हो।
आप तिरै पैलो उधरे दोयां री बेड़ो पार हो॥
ए उपगार उपगार छै मोखरा तिणमें निरवद्य कारज धर्म हो।
शेष जथा भरे संसार ना तिण थीपा बंधसी कर्म हो॥

हमें वह भी तो समझना होगा जो आचार्य भिक्षु हमें समझाना चाहते थे। वे सयम और असयम के बीच भेद-रेखा खीच रहे थे। उस समय जो विचार उन्होने दिये, उनका उद्देश्य सामाजिक सहयोग का विघटन नही, किन्तु सयम और असयम का पृथक्करण या बन्धन और मुक्ति का विश्लेषण है।[1]

उनके दयार्द्र मानस का परिचय हमें तब मिलता है, जब हम उनके सेवा-भाव की ओर दृष्टि डालते है। उन्होने कहा—"जो साधु रोगी, वृद्ध और ग्लान साधुओं की सेवा-शुश्रूषा नही करता, वह भगवान् की आज्ञा का उल्लघन करता है। उसको महामोहनीय कर्म का बन्ध होता है। उसके इहलोक और परलोक-दोनों बिगड जाते है।[2]"

एक साधु आहार-पानी की भिक्षा लाए, उसका कर्तव्य है कि वह दूसरे साधुओं को सविभाग दे। किन्तु यह मैं लाया हूँ, ऐसा सोच जो अधिक लेता है, उसे चोरी का दोष लगता है और उसका विश्वास उठ जाता है।

एक बार मुनि खेतसीजी को अतिसार हो गया। स्वामीजी ने स्वय उन्हे सम्हाला और उनकी परिचर्या की।[3] रोगी साधुओ के लिये दाल मँगवाते और उन्हें चखकर अलग-अलग रख देते। किसी में नमक अधिक होता, किसी मे

१—अणुकम्पा ९ ७०-७४

हिसा री करणी में दया नहीं छै, दया री करणी में हिंसा नांही जी।
दया नें हिंसा री करणी छै न्यारी, ज्यूं तावड़ो नें छाही जी॥
ओर वसत में भेल हुवें पिण, दया में नहीं हिंसा रो भेलो जी।
ज्यू पूर्व नें पिछम रो मारग, किण विध खायें मेलो जी॥
केइ दया नें हिंसा री मिश्र करणी कहे, ते कूडा कुहेत लगावें जी।
मिश्र थापण नें मूढ मिथ्याती, भोला लोकां नें भरमावें जी॥
जो हिंसा कीयां थी मिश्र हुवे तो, मिश्र हुवें पाप अठारो जी।
एक फिर्यां अठारें फिरें छें, कोइ बुधवत करजो विचारो जी॥
जिण मारग री नींव दया पर, खोजी हुवें ते पावें जी।
जो हिंसा मांहें धर्म हुवें तो, जल मथीयां घी आवें जी॥

२—अणुकम्पा ८ ४५

रोगी गरढा गिलांण साध री वीयावच,
साध न करे तो श्री जिण आगना बारें।
महा मोहणी कर्म तणों बंध पाडें,
इह लोक नें परलोक दोनूं बिगाडें॥

३—भिक्खु-दृष्टान्त २५३, पृष्ठ १०१

क्रम। रोगी को कौन सी चीजें कौन सी नहीं इसका पूरा ध्यान रखते।[1] उनकी शासन-व्यवस्था यह है कि कोई साधु रोगी साधु की परिचर्या करने में आना-कानी करे वह संघ में रहकर भी संघ का नहीं है। उसे संघ से बहिष्कृत कर देना चाहिये।

जिन-शासन में "ग्लान की सेवा ही सार है" और जो ग्लान की सेवा करता है वह मुक्ति प्राप्त करता है। जैन परम्परा के इस आदर्श की उन्होंने कभी विस्मृति नहीं की। उनकी भूमिका साधु-जीवन की थी। उनका साध्य आत्म-मुक्ति था। इसलिये उन्होंने जो कहा वह साधु-जीवन को लक्ष्य कर कहा। यह वाणी किसी समाज-नेता की होती तो वह समाज को लक्ष्य कर कहता। यह भूमिका भेद है। समाज की भूमिका में करुणा प्रधान होती है और अहिंसा गौण। आत्म-मुक्ति की भूमिका में अहिंसा प्रधान होती है और करुणा गौण। सामाजिक प्राणी जहाँ अहिंसा की उपेक्षा भी कर देता है वहाँ उसे करुणा की अपेक्षा होती है। आत्म-मुक्ति की साधना करनेवाला करुणा की अपेक्षा वहीं रखता है जहाँ अहिंसा की उपेक्षा न हो। करुणा के भाव से भावित व्यक्तियों का प्रेरक वाक्य यह रहा — मैं राज्य की कामना नहीं करता मुझे स्वर्ग और मोक्ष की भी कामना नहीं है। दुःख से पीड़ित प्राणियों का दुःख दूर करूँ यही मेरी कामना है।[3]

इसमें करुणा का अजस्र स्रोत है पर उद्देश्य का अनुगमन नहीं है। कोई भी मुमुक्षु अपवर्ग (मोक्ष) की इन शब्दों में उपेक्षा नहीं कर सकता। समाज की स्थापना का मूल परस्पर-सहयोग है। सहयोग की भित्ति को व्यवस्थित करने के लिये ही यह श्लोक रचा गया है। अपने उद्देश्य की सीमा तक यह बहुत ही मूल्यवान् है, पर मोक्ष के साधनों पर विचार किया जाय तब यह विषय बहुत चिन्तनीय हो जाता है। वस्तुतः दुःख क्या है? किस प्रकार का दुःख दूर करना मोक्ष के अनुकूल है? दुःख को दूर कैसे किया जाय? किसलिये किया जाय? आदि आदि। साधारण दृष्टि यह है कि प्रिय वस्तु का वियोग और अप्रिय का संयोग ही दुःख है। प्रतिकूल वेदना ही दुःख है। मोक्ष-दृष्टि यह है कि जन्म

१—भिक्खु-दृष्टान्त । १७१ पृष्ठ ६८ ६९

२—उत्तराध्ययन नेमिचन्द्रीय वृत्ति । पत्र १४

'गिलाणवेयावच्चमेवेत्थ पवयणे सारं,
जो गिलाणं जायइ सो मं दंसणेणं पडिवज्जइ'

३—न त्वहं कामये राज्यं न स्वर्गं न पुनर्भवम् ।
कामये दुःखतप्तानां प्राणिनामार्तिनाशनम् ॥

दुःख है। सामान्यतः माना जाता है कि प्रिय वस्तु का संयोग और अप्रिय वस्तु का वियोग सुख है। अनुकूल वेदना सुख है। मुमुक्षु लोग मानते हैं कि बन्धन-मुक्ति सुख है।

मनुष्य का ध्येय मोक्ष होना चाहिये, इस विचार में सभी आत्मवादी एकमत हैं। मोक्ष में राग-द्वेष, स्नेह आदि के बन्धन नहीं हैं, इसमें भी दो मत नहीं हैं। साध्य के निकट पहुँच शरीर से भी मुक्ति पा लेना है, यह भी विवादास्पद नहीं। मतभेद है इस बात में कि मोक्ष का साधन क्या है? साध्य समान होने पर भी साधन समान नहीं हैं।

जो आत्मवादी नहीं हैं, उनका साध्य कोरा सामाजिक अभ्युदय होता है। जिनका विश्वास आत्मवाद में है पर आचरणात्मक शक्ति का जिनमें पर्याप्त विकास नहीं हुआ है, उनका प्रधान साध्य—मोक्ष या आत्मा का पूर्ण विकास होता है, और गौण साध्य—सामाजिक अभ्युदय या आवश्यक भौतिक विकास। आत्मा में जिनका कोरा विश्वास ही नहीं होता, किन्तु जिनकी आचरणात्मक शक्ति पर्याप्त विकसित होती है, वे केवल आत्म-विकास को ही साध्य मानकर चलते हैं। ये जीवन की तीन कोटियाँ हैं। इनके विचारों को पृथक्-पृथक् दृष्टिकोणों से समझा जाय तो कोई उलझन नहीं आती। जीवन के इन तीन प्रकारों को, जब एक ही तुला से तोलने का प्रयत्न होता है, तब विसंगति उत्पन्न हो जाती है। आत्म-विकास का साधन है ब्रह्मचर्य। सामाजिक प्राणी विवाह करता है। अब्रह्मचर्य मोक्ष का साधन नहीं है। जिस आत्मवादी का साध्य मोक्ष होता है और वह ब्रह्मचारी रह नहीं सकता, इसलिये वह विवाह करता है। चिन्तन-काल में यह विसंगति प्रतीत होती है। आस्था और कर्म में विरोध की अनुभूति होती है। इस विसंगति का निवारण दो प्रकार से किया जाता है। एक विचार है कि समाज के आवश्यक कर्म यदि अनासक्त भाव से किये जायें तो वे मोक्ष-साधना के प्रतिकूल नहीं होते। दूसरा विचार है कि आचरण का पक्ष प्रबल होने पर ही आस्था और कर्म की विसंगति मिटती है। साधना के प्राथमिक चरण में उसका निवारण नहीं होता। जब आचरण का बल विकासशील होता है, तब आस्था और कर्म की दूरी मिट जाती है।

आचार्य भिक्षु इस दूसरी विचारधारा के समर्थक थे। उन्होंने आस्था और कर्म की विसंगति को मिटाने के लिये साधन के विचार को गौण नहीं किया। उन्हें यह ज्ञात था कि आस्था का परिपाक आचरण से पहले होता है। आचरण के साथ आस्था अवश्य होती है, पर आस्था के साथ आचरण नहीं भी होता। आचरण के अभाव में आस्था को विपरीत बताना उन्हें अभीष्ट नहीं था। आस्था और कर्म में संगति लाने के लिये वे मोक्ष के असाधन को साधन मानने

के लिये वे प्रस्तुत नहीं हुए। इसी भूमिका में उनके विचारों की कुछ महत्त्वपूर्ण रेखाएँ निर्मित हुईं जिनकी प्रतिक्रिया प्राचीन भाषा में है कि भीखणजी ने दया दान को उठा दिया। वे मरते प्राणी को बचाने की मनाही करते हैं आदि आदि। आज की भाषा में उनकी प्रतिक्रिया है कि उन्होंने सामाजिक जीवन को लौकिक और लोकोत्तर या आध्यात्मिक रूप में विभक्त कर दिया आदि आदि। इन प्रतिक्रियाओं का उत्तर हमें उनके साध्य-साधन की ऐकान्तिक चर्चा से ही लेना है इसलिये हमें उनके साध्य-साधनवाद के कुछ महत्त्वपूर्ण अंशों पर दृष्टिपात करना होगा।

★

अध्याय : ३

साध्य-साधन के विविध पहलू

: १ जीवन और मृत्यु

मनुष्य की पहली जिज्ञासा है जीवन और अन्तिम जिज्ञासा है मृत्यु। शेष जिज्ञासाएँ इस द्वन्द्व के बीच में हैं।

जीवन क्या है ? इससे पहले क्या था ? मौत क्या है ? उसके पश्चात् क्या होगा ? सत्यान्वेषण की रेखा के ये प्रधान बिन्दु हैं। जीवन से पूर्व और मौत के पश्चात् क्या है और क्या होगा ? इन प्रश्नों के समाधान में आचार्य भिक्षु की कोई नई देन है, यह मैं नहीं जानता। जीवन और मृत्यु हमारी दृष्टि के स्पष्ट कोण हैं। इनकी व्याख्या को उन्होंने अवश्य ही आगे बढाया है। सामान्य धारणा के अनुसार जीवन काम्य है और मौत अकाम्य। प्राणियों में तीन एषणाएँ हैं, उनमें पहली है 'प्राणैषणा'। वैदिक ऋषियों ने कहा—"हम सौ वर्ष जिएँ।"[१] भगवान् महावीर ने कहा—"सब जीव जीना चाहते हैं, मरना कोई नहीं चाहता।"[२] यही विचार मनोवैज्ञानिक सुखवाद का आधार बन गया। साधना की दृष्टि से भगवान् महावीर ने कहा—"जीवन और मृत्यु की आकांक्षा नहीं करनी चाहिए।"[३] व्यास भी इसी भाषा में बोलते हैं—

१—यजुर्वेद : ३६।२४

पश्येम शरदः शतम्,

अदीनाः स्याम शरदः शतम्।

२—दशवैकालिक ६।११

सव्वे जीवा वि इच्छंति, जीविउं न मरिज्जिउं।

३—सूत्र कृताङ्ग १।१०।२४

नो जीवियं नो मरणाभिकंखी।

जीवन और मृत्यु का अभिनन्दन मत करो।[1]

आचार्य भिक्षु की चिन्तन दिशा स्वतन्त्र नहीं थी। उनका चिन्तन जैनागमों की परिक्रमा किये चला पर परिक्रमा का मार्ग उन्होंने विस्तृत बना दिया। उन्होंने कहा—जीवन और मृत्यु अपने आप में न काम्य है और न अकाम्य। ये परिवर्तन के अवश्यम्भावी चरण हैं। पहले चरण में प्राणी नये जीवन के लिए आता है और दूसरे में नये जीवन के लिये चला जाता है। पुद्गल की भूमिका में जीवन काम्य है और मृत्यु अकाम्य। आत्मा की भूमिका में जीवन और मृत्यु न काम्य हैं और न अकाम्य। असंयममय जीवन और मृत्यु अकाम्य हैं संयममय जीवन और मृत्यु काम्य। निष्कर्ष की भाषा में असंयम अकाम्य है और संयम काम्य। काम्य और अकाम्य सापेक्ष हैं। इनका निर्णय साध्य के आधार पर ही किया जा सकता है।

साध्य दो विभागों में विभक्त है—जीवन या जीवन-मुक्ति। प्रवृत्ति का क्षेत्र है जीवन। उसका स्रोत है रागात्मक या द्वेषात्मक भाव या असंयम। मृत्यु जीवन का अनिवार्य परिणाम है इसलिये जो जीना चाहता है वह मरना भी चाहता है। परिणाम की दृष्टि से यही सत्य है। जीव जीना चाहता है मरना नहीं चाहता यह रुचि की दृष्टि से ही संगत हो सकता है। किन्तु रुचि की अपेक्षा आचरण में अधिक बल होता है। अधर्म करनेवाला धर्म का फल चाहता है। आचरण अधर्म का और रुचि धर्म के फल की—यह संघर्ष है। इसमें विजयी आचरण होता है। वह रुचि को परास्त कर जीव को अपने पीछे ले चलता है।

सच तो यह है कि जो मरना नहीं चाहता वह जीना भी नहीं चाहता। मृत्यु से मुक्ति वही पा सकता है जो जीवन से मुक्ति पा सके। इस विवेक के साथ हम एक बार सिंहावलोकन करेंगे। रुचि की अपेक्षा सत्य यह है कि जीवन काम्य है मृत्यु अकाम्य। आचरण की अपेक्षा सच यह है कि जिसे जीवन काम्य है उसे मृत्यु भी काम्य है और जिसे मृत्यु अकाम्य है उसे जीवन भी अकाम्य है। आचार्य भिक्षु ने इस साध्य की कसौटी पर साधन को परखा। परख का परिणाम उन्होंने इन शब्दों में रखा— 'अध्यात्म की भाषा में जीवन साध्य नहीं है। साध्य है जीवन की मुक्ति उसका साधन है संयम। इसलिये संयम ही काम्य है। असंयम जीवन-मुक्ति का साधन नहीं है इसलिये वह अकाम्य है। असंयत जीवन भी अकाम्य है और उसे चलाने में

१—महाभारत शान्तिपर्व : २४५।१५
नाभिनन्देत मरणं नाभिनन्देत जीवितम्।

साधन भी अकाम्य है। सयत जीवन भी काम्य है और उसे चलाने के साधन भी काम्य हैं। साधन वही होता है जो साध्य के सर्वथा अनुकूल हो। जीवन-मुक्ति की साधना तभी हो सकती है जब कि जीवन टिके। जीवन अन्न और पानी के बल पर टिकता है। उनका अर्जन प्रवृत्ति से होता है, इसलिये सब काम्यो का मूल प्रवृत्ति है। इस तर्क के आधार पर जीवन-मुक्ति का साधन जीवन, जीवन का साधन अन्न-पान और उसका साधन प्रवृत्ति है। इसलिये ये सब काम्य हैं।"

आचार्य भिक्षु ने इस कारण-परम्परा को पूर्ण सत्य नही माना। उन्होने कहा—जीवन-मुक्ति का साध्य, सयत जीवन और अन्न-पान के अर्जन की प्रवृत्ति सयत हो तो यह क्रम साध्य के अनुकूल है, इसलिए काम्य हो सकता है। जीवन मुक्ति का साध्य, असयत जीवन और अन्न-पान के अर्जन की प्रवृत्ति असयत हो तो यह क्रम साध्य के अनुकूल नहीं है, इसलिये यह अकाम्य है। साध्य जीवन मुक्ति का न हो, जीवन और अन्न-पान के अर्जन की प्रवृत्ति असयत हो वह तो अकाम्य है ही। यह दिशा साध्य और साधन दोनो से शून्य है। आचार्य भिक्षु के धर्म और अधर्म, अहिंसा और हिंसा के पृथक्करण की भेद-रेखा यही है। उन्होने कहा है

"जीव जीता है, वह अहिंसा या दया नही है। कोई मरता, वह हिंसा नही है। मारने की प्रवृत्ति हिंसा है और मारने की प्रवृत्ति का सयम करना अहिसा है।"[1]

उन्होंने दृष्टान्त की भाषा में कहा—चींटी जीवित रहे इसलिये आपने उसे नहीं मारा, यह अहिंसा या दया है तो हवा का झोंका आया, चींटी उड गई, आपकी दया भी उड गई। किसी का पैर टिका वह मर गई, आपकी दया भी मर गई। जो अहिंसा किसी जीव को जिलाने के लिये होती है वह उसकी मौत के साथ चली जाती है, और जो अपनी जीवन-मुक्ति के लिये होती है वह सयम में परिणत हो जाती है।

आचार्य भिक्षु की भाषा में सयम और धर्म अभिन्न हैं। जीवन और मृत्यु की इच्छा असयम है, इसलिये वह अधर्म है। वह अहिंसा नही है, किन्तु मोह है।

१—अणुकम्पा ५.११

जीव जीवें ते दया नहीं, मरें ते हो हिंसा मत जांण।
मारणवालां नें हिंसा कही, नहीं मारे ढोते तों दया गुण खांण॥

मोहात्मक प्रवृति से जीवन की परम्परा का अन्त नहीं होता किन्तु वह बढ़ती ही है।[1]

मोह-मूढ मानस का साध्य जीवन बन जाता है। जो जीवन को साध्य मान कर जीता है वह पवित्रता या संयम को प्रधान नहीं मान सकता। संयम को प्रधानता वही दे सकता है जिसका साध्य जीवन-मुक्ति हो।

२ आत्मौपम्य

एक आदमी लोहे का लाल-लाल तपा हुआ एक गोला संडासी से पकड़ कर लाता है और कहता है

हे धर्म संस्थापको! लो इस गोले को एक क्षण के लिए अपनी हथेली में लो। यह कहकर उस आदमी ने गोले को आगे बढ़ाया परन्तु सबने अपने हाथ पीछे खींच लिए। यह देख उसने कहा

'ऐसा क्यों? हाथ क्यों खींच लिए?

"हाथ जल उठेंगे।"

"क्या होगा जलने से?"

"वेदना होगी।"

जैसे तुम्हें वेदना होती है वैसे क्या औरों को नहीं होती?

सब जीवों को अपने समान समझो। सब जीवों के प्रति इसी मन और माप से काम लो।

१—अनुकम्पा : १ ६. १

जहिं मरयाँ जीवयाँ तो धर्म हुवो नहीं अंस।
ए अनुकम्पा जीवां तणी करें कर्म नों बंध॥

२—अनुकम्पा : ६, ६०-६५

केइ जीव मारयां मांहि धर्म कहे छै, ते पूरा अग्यांनी जाणा जी।
त्यांनें बोध पुरष मिलें जिन मारग रो जिण जिण जोजायें सूता जी॥
लोह नों गोलो अगन तपाए, ते अगन वर्ण करे रातो जी।
ते पकड संडासी आयो त्यां पासे कहे म्हारो गोलो थें झालो हाथे जी॥
जब पाखंडीयां हाथ पाछो खांच्यो, जब बोध पुरष कहे त्यांनें जी।
थें हाथ पाछो खांच्यो किण कारण थारो सरधा म राखो छानें जी।
जब कहे गोलो म्हे हाथे ल्यां तो म्हारो हाथ बळे आगे तापो जी॥
तो थारो हाथ बळें तिणमें पाप के धर्म जब कहे उणमें अणी पापो जी।
थारो हाथ बळें तिणमें पाप बतावें तो औरां नें मारयां धर्म कांई जी।
थें सर्व जीव सरीषा जाणों थें सोच देखो मन मांहि जी॥
जे जीव मारयां में धर्म कहें ते रुलें संसार अनंतो जी।
ए वगला अंग अनेक अठारमें, तिहां आप क्या समझंतो जी॥

भगवान् महावीर ने कहा—"सब जीवों को आत्मतुल्य समझो।"[१]

महात्मा बुद्ध ने कहा—"दण्ड से सब डरते हैं, मृत्यु से सब भय करते है। दूसरो को अपनी तरह जान कर, मनुष्य किसी दूसरे को न मारे, न मरवाए।"[२]

योगीराज कृष्ण ने कहा—"जो योगयुक्त आत्मा है, जो सर्वत्र समदर्शी है, वह सब जीवों में अपनी आत्मा को और अपनी आत्मा में सब जीवों को देखता है।"[३]

यह आदर्श वाणी है। साधना के पहले सोपान में आदर्श और व्यवहार का पूर्ण सामञ्जस्य नही होता, वह सिद्धिकाल में होता है। मान्यता और आचरण में विरोध नही ही होता, ऐसा नहीं मानना चाहिए। मनुष्य जो कुछ मानता है वही करता है, यह एकात सत्य नही है। मान्यता यथार्थ होने पर भी कुछ ऐसी अनिवार्यताएँ या दुर्बलताएँ होती हैं कि मनुष्य मान्यता के अनुरूप आचरण नही कर पाता। वीतराग आत्मा के सिद्धान्त और आचरण में कोई विसगति नहीं होती। अवीतराग की पहचान सात बातों से होती है[४]—(१) वह हिंसा करता है, (२) असत्य बोलता है, (३) अदत्त लेता है, (४) इन्द्रिय-विषयों का आस्वादन करता है, (५) पूजा-सत्कार चाहता है, (६) यह सपाप है, यों कहता हुआ भी उसका आचरण करता है। और (७) कथनी के अनुरूप करणी नहीं करता।

१—दशवैकालिक · १०।५

अत्तसमे मनिज्ज छप्पिकाए।

२—धम्मपद दण्ड वर्ग-१

सब्बे तसति दण्डस्स सब्बे भायन्ति मच्चुनो।
अत्तान उपमं कत्वा न हनेय्य न घातये॥

३—गीता ६।२९

सर्वभूतस्थमात्मान, सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शन ॥

४—ठा० सू० ५५०

सत्तहिं ठाणेहिं छउमत्थं जाणेज्जा, तं०-पाणे अइवाएत्ता भवति मुसंवइत्ता भवति अदिन्नमादित्ता भवति सद्दफरिसरसरूवगंधे आसादेत्ता भवति पूतासक्कारमणुवूहेत्ता भवति इम सावज्जन्ति पण्णवेत्ता पडिसेवेत्ता भवति णो जधावादी तधाकारी यावि भवति।

यह एक बहुत बड़ा मनोवैज्ञानिक तथ्य है इस ओर ध्यान नहीं दिया गया। केवल सिद्धान्त और आचरण में संगति लाने का प्रयत्न हुआ। फलस्वरूप हिंसा ने अहिंसा का रूप ले लिया। हिंसा उपादेय नहीं है—यह मान्यता पक्ष रहा। जीवन निर्वाह के लिये हिंसा अनिवार्य है—यह व्यवहार-पक्ष रहा। यह स्पष्ट विसंगति है इसे मिटाने का और कोई मार्ग नहीं सूझा तब ये व्याख्याएँ स्थिर होने लगीं कि—

१—आवश्यक हिंसा हिंसा नहीं है।

२—बहुतों के लिये थोड़ों की हिंसा हिंसा नहीं है।

३—बड़ों के लिये छोटों की हिंसा हिंसा नहीं है।

आचार्य भिक्षु ने इस ओर जनता का ध्यान खींचा कि यह दोहरी भूल है। एक तो हिंसा करना और दूसरे हिंसा को अहिंसा मानना। उन्होंने आत्म विश्वास के साथ कहा—हिंसा कभी और किसी भी परिस्थिति में अहिंसा नहीं हो सकती। इनमें पूर्व और पश्चिम की सी दूरी है।[1]

उन्होंने तर्क की भाषा में कहा—आवश्यकता की कोई सीमा नहीं है। आवश्यक हिंसा को अहिंसा माना जाय तो हिंसा कोई रहेगी ही नहीं। आवश्यकता की सृष्टि दुर्बलता के तत्त्वों से होती है। वे हिंसा को अहिंसा में बदल सकें इतनी क्षमता उनमें नहीं है, इसलिए आवश्यक हिंसा भी हिंसा है।

महात्मा गाँधी ने जीवन की विसंगति पर प्रकाश डालते हुए लिखा है

'श्रद्धा और कर्म में विरोध किसलिए? विरोध तो अवश्य है ही। जीवन एक आकांक्षा है। इसका ध्येय पूर्णता अर्थात् आत्म-साक्षात्कार के लिये प्रयत्न करने का है। अपनी निर्बलताओं और अपूर्णताओं के कारण आदर्श को नीचे गिराना नहीं चाहिए। मुझ में निर्बलता और अपूर्णता दोनों हैं इसका दुःखद भान मुझे है। हालाँकि बोरसद के लोगों के सामने मैंने अपने सहोदर भूखे चीतों के विनाश का समर्थन किया तथापि मैंने जीव मात्र के प्रति शाश्वत प्रेम धर्म का सुवाक्य भी बतलाया। इसका पूर्णता से पालन मुझसे इस जन्म में न हो सके तथापि इस सम्बन्ध की मेरी श्रद्धा तो अविचल रहेगी।

वर्तमान का नीति शास्त्र कहता है—"ग्रेटेस्ट गुड ऑफ दी ग्रेटेस्ट नम्बर" अधिक से अधिक लोगों का अधिक से अधिक सुख या हित हो। इसमें विरोधी

१—अनुकम्पा : ६.७१

और वस्तु में भेल हुवें पिण दया में नहीं हिंसा री भेलो जी।
ज्यूं पूर्व ने पश्चिम रो मारग, किण विध पावें मेलो जी॥

२—व्यापक धर्म भावना: जीवमात्र की एकता पृ० ९१

हितो की कल्पना है। बहुसख्यकों के लिए अल्पसख्यको के बलिदान को उचित माना गया है। इसी सिद्धान्त ने बहुसख्यक और अल्पसख्यक का झगड़ा खड़ा किया है। नीति-शास्त्र की इस मान्यता पर राजनीति का प्रभाव है। एकतन्त्र की प्रतिक्रिया जनतन्त्र के रूप में हुई। जनतन्त्र का अर्थ है—अल्पसख्यकों पर बहुसख्यकों का राज्य और बहुमत के सामने अल्पमत की पराजय। इस भावना का प्रतिबिम्ब नीति-शास्त्र पर पड़ा और वह सर्वभूत-आत्मभूत की बात भूल गया।

मध्यकालीन धर्मशास्त्र के व्याख्याता भी इस भूल से अपने को बचा नहीं सके। उन्होंने भी बहुमत का साथ दिया। इसलिये आचार्य भिक्षु ने क्रान्ति के स्वर में कहा—

"बहुतों के हित के लिये थोड़ो के हित को कुचल देना उतना ही दोषपूर्ण है जितना कि थोड़ो के हित के लिये बहुतों को कुचलना। एक आदमी सौ रोगी मनुष्यो को स्वस्थ करने के लिये 'ममाई' करता है—एक मनुष्य के शरीर को क्षत-विक्षत कर खून निकालता है। एक आदमी सिंह व कसाई को मारकर अनेक जीवो को मृत्यु के मुँह में जाने से बचाता है। इनमें धर्म बतानेवालों की श्रद्धा विशुद्ध नहीं है।"[1]

राज्यतन्त्र मे राजा के जीवन का असीम मूल्य था। उसकी या उसके परिवार की इच्छा की वेदी पर मनुष्यो तक की बली हो सकती थी। एक पौराणिक कथा के अनुसार एक राजकन्या की इच्छा पर राजा ने वैश्य-पुत्र को मारने की आज्ञा दे दी। प्रमुख नागरिक राजसभा में गए। राजा ने उनकी प्रार्थना के उत्तर में कहा—राजकन्या का आग्रह है कि या तो वह जीएगी अथवा वैश्य-पुत्र। दोनों एक साथ नही जी सकते। राजा ने कहा—आप कहिए, मैं किसे मारूँ ? नागरिक अवाक् हो वापस चले आए। राजकन्या के लिये वैश्य-पुत्र मारा गया।

राज्यसत्ता शक्ति का जाल है। उसमें जो फँसे, उन्होंने इसे क्षम्य मान लिया। पर अहिसा आत्मा की सहज पवित्रता है। वह एक के लिये दूसरे की बली को कभी भी क्षम्य नही मान सकती। जो लोग अहिसा के क्षेत्र में

१—अणुकम्पा, ७, १०-२७

मरता देखी सो रोगला, ममाइ विण हो ते तो साजा न थाय।
कोइ ममाइ कर एक मिनख री, सो जणा रे हो साता कीधी बचाय॥
कोइ नाहर कसाइ मारनें, मरता राख्या हो घणा जीव अनेक।
जो गिणें दोया नें सारखा, त्यांरी किघडी हो सरधा वात बचक॥

राजतन्त्र की परम्परा को निभा रहे थे उनके विरुद्ध आचार्य भिक्षु ने विद्रोह किया। उनकी विद्रोही वाणी ने घोषित किया

'छोटे जीवों को मारकर बड़ों का पोषण करने को अहिंसा कहते हैं वे छोटे जीवों के दुश्मन हैं।'[1]

उनका यथार्थ मन कह उठा— 'ये छोटे जीव अपने अशुभ कर्म भुगत रहे हैं लोग इन्हें सता रहे हैं। और उनके द्वारा बड़े जीवों के पोषण में पुण्य बतलानेवाले ये भेषधारी उठ खड़े हुए हैं।'[2] छोटे और बड़े जीवों में शरीर और ज्ञान की मात्रा का तारतम्य है। आत्मत्व की दृष्टि से सब जीव समान हैं। अहिंसा और हिंसा की नाप छोटा-बड़ा आकार नहीं है। वह राग-द्वेषात्मक प्रवृत्ति के भाव और अभाव से मापी जाती है।

आवश्यक हिंसा हिंसा नहीं है बड़ों के लिये छोटों की हिंसा हिंसा नहीं है बड़ों के लिये छोटों की हिंसा हिंसा नहीं है—इन धारणाओं का मूल रागात्मक प्रवृत्ति है और इनका आचरण भी रागात्मक है। इसलिये यह सारा हिंसा-पक्ष है।

जीव जीव का जीवन है—यह प्राणी की विवशता है पर अहिंसा नहीं है।

बहुसंख्यकों के हित के लिये अल्पसंख्यकों का अहित क्षम्य है यह जनतन्त्र का सिद्धान्त है पर अहिंसा नहीं है।

बड़ों के लिये छोटों का बलिदान क्षम्य है यह राजतन्त्र की मान्यता है पर अहिंसा नहीं है।

इन सिद्धान्तों से आत्मौपम्य या सर्वभूतात्मभूतवाद की रीढ़ टूटी है। विवशता बहुसंख्यक और अल्पसंख्यक तथा छोटे और बड़े के प्रश्न हिंसा के क्षेत्र में उठते हैं अहिंसा का स्वरूप इन सभी प्रश्नों से मुक्त है।

आत्मौपम्य के प्रयोग की भूमिकाएँ विभिन्न हैं। रागद्वेषात्मक प्रवृत्ति तीव्र होती है आत्मौपम्य की बुद्धि मन्द हो जाती है। रागद्वेषात्मक प्रवृत्ति मन्द होती है आत्मौपम्य की बुद्धि तीव्र हो जाती है। मनुष्य का ज्ञान विशुद्ध होता है तब वह आत्मौपम्य को जानता है। उसकी दृष्टि विशुद्ध होती है तब वह

१—व्रताव्रत : ७-४

छोटा नै मार जीवां नै पोखणां ए तो मारग छोड्यो चली वैरी।
तिण माँहि दुष्टी धर्म बतावै ते छोटा जीवां रा सत्रु वैरी॥

२—व्रताव्रत : ७-५

पाछिल भव पाप उपाया तिण सूं ते हुआ एकेंद्री पुन परवारी।
त्यां छोटा जीवां रे अगम करे यूं मोटां पोखियां थापै, उठ्या भेषधारी॥

आत्मौपम्य में विश्वास करता है। उसका मन विशुद्ध होता है तब वह आत्मौपम्य का आचरण करता है।

कुछ लोग हिंसा को अनिष्ट जानते हुए भी अहिंसा में विश्वास नहीं कर पाते। यह वह स्थिति है जहाँ ज्ञान है पर दृष्टि की शुद्धि नहीं है। कुछ लोग हिंसा को अनिष्ट जानते हुए और अहिंसा में विश्वास करते हुए भी उसका आचरण नहीं कर पाते। यह वह भूमिका है जहाँ ज्ञान और दृष्टि है पर चारित्रिक क्षमता नहीं है।

इन भूमिका-भेदों को ध्यान में रखकर ही आचार्य भिक्षु ने हिंसा और अहिंसा, व्यवहार और परमार्थ का विश्लेषण किया।

• ३ • संसार और मोक्ष

ससार व्यवहार से चलता है। व्यवहार में हिंसा की अनिवार्यता है। यदि हिंसा और अहिंसा में अत्यन्त भेद हो तो हिंसा करना कौन चाहेगा? उसके बिना व्यवहार नहीं चलेगा। व्यवहार के बिना ससार मिट जाएगा।

प्रत्येक आदमी मोक्ष चाहता है, सुख चाहता है। उसका साधन अहिंसा है। सब लोग उसीका आचरण करना चाहेंगे। ससार किसी भी समझदार आदमी का साध्य नहीं है। दु ख कोई नहीं चाहता। वह हिंसा से होता है। उसका आचरण कोई नही करेगा, सारा व्यवहार गडबडा जाएगा। इस तर्क की कसौटी पर आचार्य भिक्षु के अभिमत को कसा तो लोगों को ससार का भविष्य अधकारमय दीखा।

आचार्य भिक्षु ने उसे उक्त भेदों के आधार पर सुलझाया। उन्होंने कहा—हिंसा और अहिंसा का सिद्धान्त मोहाणुओं की सक्रियता और निष्क्रियता पर अवलम्बित है। मोहाणु मनुष्य को पदार्थ की ओर आकृष्ट करते हैं। उनकी मात्रा अधिक होती है तब वे आत्मा के सहजभाव को निर्जीव बना देते हैं। जीवन और भोग साध्य बन जाते हैं। उनके लिये हिंसा की जाती है। आपने स्वय अनुभव किया होगा और अनेक लोगों को यह कहते सुना होगा कि बुराई को बुराई जानते हुए भी उसे छोड नही पा रहे हैं। यह स्थिति मोहाणुओं की सक्रियता से बनती है। उनकी निष्क्रियता के लिये कठोर साधना अपेक्षित है। इसलिये व्यवहार की विशृङ्खलता के काल्पनिक भय से अहिंसा की यथार्थता को बदलने की आवश्यकता नही है। ससार किसी का भी साध्य नहीं होगा, सब लोग अहिंसा का आचरण करना चाहेंगे—यह तर्क हो सकता है, वस्तुस्थिति नहीं। दु ख कोई नही चाहता, यह आप और हम सब मानते हैं। अपराधी भी दु ख के लिये अपराध नहीं करता है पर उसका परिणाम

गुण नहीं है। जीवन-मुक्ति की दृष्टि से देखा जाये तो भोग भी अपराध है। भोगी दुःख के लिये भोग नहीं करता होगा पर भोग का परिणाम सुख नहीं है। साम्य की प्राप्ति केवल मान्यता से नहीं किन्तु आचरण की पूर्णता से होती है। भोग का परिणाम संसार है। इसलिये मोक्ष-दशा का साम्य संसार ही होगा। भोगासक्त लोग यथेष्ट मात्रा में अहिंसा का आचरण करना चाहते भी नहीं और यदि चाहें तो कर नहीं सकते। आसक्ति और अहिंसा के मार्ग दो हैं। अहिंसा के फूल सुकुमारतम हैं। वे शक्ति के धागे में पिरोये नहीं जा सकते।

४ बल-प्रयोग

एकेन्द्रिय को मारकर पञ्चेन्द्रिय का पोषण करने में लाभ है किसी ने कहा। आचार्य भिक्षु बोले—किसी व्यक्ति ने तुम्हारा लौकिया छीनकर दूसरे व्यक्ति को दे दिया उसमें लाभ है या नहीं? एक व्यक्ति ने गेहूँ के कोठों को लूट लिया उसमें लाभ है या नहीं?

वह बोला—नहीं।

आचार्य—क्यों?

वह बोला—उनके स्वामी के मन बिना दिया गया इसलिए।

आचार्य—एकेन्द्रिय ने कब कहा कि हमारे प्राण लूट कर दूसरों का पोषण करना। यह बलात्कार है एकेन्द्रिय की चोरी है। इसलिए एकेन्द्रिय को मार पञ्चेन्द्रिय का पोषण करने में धर्म नहीं है।

५ हृदय-परिवर्तन

मनुष्य की प्रवृत्ति के निमित्त तीन हैं शक्ति प्रभाव और सहानुभूति। सत्ता से शक्ति सम्बन्ध से प्रभाव और हृदय-परिवर्तन से सहानुभूति का उदय होता है। शक्ति राज्य-संस्था का आधार है। प्रभाव समाज-संस्था या सौविध-जीवन का आधार है। सहानुभूति हृदय की पवित्रता का आधार है। शक्ति से प्रेरित हो मनुष्य को कार्य करना पड़ता है। प्रभाव से प्रेरित होकर मनुष्य सोचता है कि यह कार्य मुझे करना चाहिए। सहानुभूति से प्रेरित होकर मनुष्य सोचता है कि यह कार्य करना मेरा धर्म है। सब लोग अहिंसक या मौलाप्री हो जायें यह कल्पना ठीक है पर सबको अहिंसक या मौलाप्री बना देने यह शक्ति का सूत्र है। हमें यह मानने में कोई आपत्ति नहीं होगी

१—भिक्खु-दृष्टान्त [२६४ पृष्ठ १०५

कि शक्ति के धागे में सबको एक साथ बाँधने की क्षमता है। पर उसमें व्यक्ति के स्वतन्त्र मनोभाव का विकास नहीं होता। वह व्यक्ति-व्यक्ति की चारित्रिक अयोग्यता का निदर्शन है। आपसी सम्बन्धों से प्रभावित होकर जो अहिंसक बनता है वह अहिंसा की उपासना नहीं करता। वह सम्बन्धों को बनाए रखने की प्रक्रिया है। प्रभाव मनुष्यों को बाँधता है पर वह मानसिक अनुभूति की स्थूल रेखा है, इसलिये इसमें स्थायित्व नहीं होता।

मोहाणुओं व पदार्थों से प्रभावित व्यक्ति जो कार्य करते हैं उनके लिये हम अहिंसा की कल्पना ही नहीं कर सकते। शक्ति के दबाव और बाहरी प्रभाव से रिक्त मानस में जो आत्मौपम्य का भाव जागता है वह हृदय-परिवर्तन है। हृदय वही होता है, उसकी वृत्ति बदलती है, इसलिये उसे हृदय-परिवर्तन कहा जाता है। शक्ति और प्रभाव से दबकर जो हिंसा से बच जाता है, वह हिंसा का प्रयोग भले न हो, किन्तु वह हृदय की पवित्रता नहीं है, इसलिये उसे हृदय-परिवर्तन नहीं कहा जा सकता।

अहिंसा का आचरण वही कर सकता है जिसका हृदय बदल जाय। अहिंसा का आचरण किया जा सकता है, किन्तु कराया नहीं जा सकता। अहिंसक वही हो सकता है जो अपने को बाहरी वातावरण से सर्वथा अप्रभावित रख सके। बाहरी वातावरण से हमारा तात्पर्य शक्ति, मोहाणु और पदार्थ से है। इनमें से किसी एक से भी प्रभावित आत्मा हिंसा से नहीं बच सकती।

आक्रमण के प्रति आक्रमण और शक्ति-प्रयोग के प्रति शक्ति-प्रयोग कर हम हिंसा के प्रयोगात्मक रूप को टालने में सफल हो सकें—यह सभव है। पर वैसा कर हम हृदय को पवित्र कर सकें या करा सकें यह सभव नहीं। आचार्य भिक्षु ने कहा—शक्ति के प्रयोग से जीवन की सुरक्षा की जा सकती है, पर वह अहिंसा नहीं है।

अहिंसा का अकन जीवन या मरण से नहीं होता, उसकी अभिव्यक्ति हृदय की पवित्रता से होती है।

अनाचार करनेवाले को समझा-बुझाकर अनाचार से छुड़ाना, यही है अहिंसा का मार्ग।[1] हिंसा और वध सर्वथा एक नहीं हैं। अहिंसक के द्वारा भी किंचित् अशक्य कोटि का वध हो सकता है, किन्तु यदि उनकी प्रवृत्ति सयम-मय हो तो वह हिंसा नहीं होती। वध को बल-प्रयोग से भी रोका जा सकता है, किन्तु वह अहिंसा नहीं होती। अहिंसा तभी होती है जब हिंसा करनेवाला

१—अणुकम्पा ५ १५

दस देवो गाँम जलायवो, इत्यादिक हो सावद्य कार्य अनेक।
ए सर्व छोड़ावें समझाय नें, सगलां री हो विध जांणो तुमें एक॥

समझ-बूझकर उसे छोड़ता है। आचार्य भिक्षु ने कहा—प्रेरक का काम हिंसक को समझाने का है। अहिंसा के क्षेत्र में वह यहीं तक पहुँच सकता है। हिंसा तो तब छूटेगी जब हिंसा करनेवाला उसे छोड़ेगा।[1]

ः ६ साध्य-साधन के वाद

साध्य और साधन एक ही है यह सुनकर सम्भव है कि आप पहले क्षण असमञ्जस में पड़ जायें। तर्क-शास्त्र आपको कार्य-कारण में भेद बतलाता है। वही धारणा आपकी साध्य और साधन के बारे में होगी। दो क्षण के लिये आप तर्क-शास्त्र को भुला दीजिए। अभी हम आध्यात्मिक क्षेत्र में घूम रहे हैं। हृदय परिवर्तन का अर्थ ही आध्यात्मिकता है।

दिन हो या रात अकेला हो या परिषद् के बीच सोया हुआ हो या जागृत प्रत्येक स्थिति में जो हिंसा से दूर रहता है, वह आध्यात्मिक है और दूर रहने की वृत्ति ही अध्यात्म है।

आध्यात्मिक जगत् का साध्य है आत्मा की पवित्रता और उसका साधन भी वही है। आत्मा की अपवित्रता कभी भी आत्मिक पवित्रता का साधन नहीं बन सकती। पहले क्षण का साधन दूसरे क्षण में साध्य बन जाता है और वही उसके अगले चरण का साधन बन जाता है। पहले क्षण का जो साध्य है वह अगले क्षण के लिये साधन है। पवित्रता ही साध्य है और वही साधन।

साध्य और साधन की एकता के विचार को आचार्य भिक्षु ने जो सैद्धान्तिक रूप दिया वह उनसे पहले नहीं मिलता। शुद्ध साध्य के लिये साधन भी शुद्ध होने चाहिएँ, इस विचार को उनकी भाषा में जो अभिव्यक्ति मिली वह उनसे पहले नहीं मिली। साध्य और साधन की सिद्धि का सिद्धान्त अब राजनीति चर्चा में भी उभर आया है। एम्मा गोल्डमैन ने जिनके विचार बड़े ही क्रान्तिकारी कहे जाते हैं हाल में रूस में एक भाषण में कहा था—'सबसे हानिकारक विचार यह है कि यदि साध्य ठीक है तो उसके लिये हर तरह के साधन ठीक समझे जाएँगे। अन्त में साधन ही साध्य बन जाते हैं और असली साध्य पर दृष्टि ही नहीं जाती। स्वयं ट्राटस्की ने लिखा है—'जिसका ध्यान साध्य पर रहता है वह साधनों की उपेक्षा नहीं कर सकता। किन्तु शायद उसने यह नहीं समझा कि साधन का कितना बड़ा प्रभाव साध्य पर

१—अनुकम्पा ८ । १

खांमू मलीगाहिज ने संतोष टालेने छांवाहिज गुण ते छाने भेरणी।
ज्ञानम देइ निरदारे रहिजो पेंमो छमोंमें ठांमे तो ठमणी पावो॥

पड़ता है। बुरे साधनों से तो बुरा साध्य ही प्राप्त होगा, इसलिये चाहे जैसे साधन प्रयुक्त करने का सिद्धान्त कभी उचित नहीं हो सकता।"[1]

आचार्य भिक्षु ने दो शताब्दी पूर्व कहा था—"शुद्ध साध्य का साधन अशुद्ध नहीं हो सकता और शुद्ध साधन का साध्य अशुद्ध नहीं हो सकता। मोक्ष साध्य है और उसका साधन है सयम। वह सयम के द्वारा ही प्राप्त हो सकता है। जो व्यक्ति लड्डुओं के लिये तपस्या करते हैं, वे कभी भी धर्मी नहीं हैं और इस उद्देश्य से तपस्या करनेवालों को जो लड्डू खिलाते हैं, वे भी धर्मी नहीं हैं।"[2]

जवाहरलाल नेहरू ने लिखा है—"गाँधीजी ने हमें सबसे बड़ी शिक्षा यह दी या फिर से याद कराई कि हमारे साधन पवित्र होने चाहिए, क्योंकि जैसे हमारे साधन होंगे, वैसे ही हमारे साध्य और ध्येय भी होगे।

एक योग्य साध्य तक पहुँचने के साधन भी योग्य होने चाहिएँ। यह बात एक श्रेष्ठ नैतिक सिद्धान्त ही नहीं बल्कि एक स्वस्थ व्यावहारिक राजनीति मालूम पड़ती थी, क्योंकि जो साधन अच्छे नहीं होते, वे अक्सर साध्य का ही अन्त कर देते हैं और उनसे नई समस्याएँ तथा कठिनाइयाँ उठ खड़ी होती है।"[3]

"जो साधन अच्छे नहीं होते वे अक्सर साध्य का ही अन्त कर देते हैं"—इसका उदाहरण आचार्य भिक्षु ने प्रस्तुत किया है। देव, गुरु और धर्म की उपासना धार्मिक का साध्य है। उपासना का साधन है अहिंसा। किन्तु जो व्यक्ति हिंसा के द्वारा उनकी उपासना करता है, वह उपासना के मार्ग से भटक जाता है। जो हिंसा के द्वारा धर्म करना चाहता है वह मिथ्यादृष्टि है। सम्यग्दृष्टि वह है जो धर्म के लिये हिंसा नहीं करता।[4]

१—अहिंसा की शक्ति (रिचर्ड० बी० ग्रेग) पृ० ९०

२ - बारह व्रत की चौपई १२ २२

ते तो अरथी छे एकन्त पेट रो, ते मजूरीया तणी छे पांत जी।
त्यांरा जीव रो कारज सभै नहीं, उलटी घाली गला माहे रातजी॥

३—राष्ट्रपिता पृ० ३६

४—व्रताव्रत १ ३५,३७

देव गुर धर्म नें कारण, मूढ हणें छ कायो रे।
उलटा पडीया जिण मार्ग थी, कुगुरां दीया बेंहकायो रे॥
वीर कयो आचारंग मांह, जिण ओलखीयो तत सारो रे।
समदिष्टी धर्म ने कारण, न करें पाप लिगारे रे॥

लोहू से लिपटा हुआ पीताम्बर लोहू से साफ नहीं होता । इसी प्रकार हिंसा से हिंसा का शोधन नहीं होता ।[1]

वर्तमान राजनीति में दो प्रकार की विचारधाराएँ है—साम्यवादी और इतर-साम्यवादी । जनता का जीवन-स्तर ऊँचा करना—दोनो का लक्ष्य है । पर पद्धतियाँ दोनों की भिन्न है ।

साम्यवादी विचारधारा यह है—लक्ष्य की पूर्ति के लिए साधन की शुद्धि का विचार आवश्यक नहीं है । लक्ष्य यदि अच्छा है तो उसकी पूर्ति के लिए बुरे साधनो का प्रयोग भी आवश्यक हो तो वह करना चाहिए । एक बार थोड़ा अनिष्ट होता है और आगे इष्ट अधिक होता है । गाँधीवादी विचार यह है कि जितना महत्त्व लक्ष्य का है उतना ही साधन का । लक्ष्य की पूर्ति येन केन प्रकारेण नहीं किन्तु उचित साधनों के द्वारा ही करनी चाहिए ।

आचार्य भिक्षु के समय मे भी साधन-शुद्धि के विचार को महत्त्व न देने वाली मान्यता थी । उसके अनुयायी कहते थे — 'प्रयोजनवश धर्म के लिये भी हिंसा का अवलम्बन किया जा सकता है । एक बार थोडी हिंसा होती है किन्तु आगे उससे बहुत धर्म होता है ।'

आचार्य भिक्षु ने इसे मान्यता नही दी । उन्होंने कहा—बाद मे धर्म या पाप होगा इससे वर्तमान अच्छा या बुरा नही बनता । कार्य की कसौटी वर्तमान ही है । कुछ जैन लोग दूसरो को लड्डू खिलाकर उनसे तपस्या कराते थे । उनका विश्वास था कि वे उपवास करेंगे उसमें हमें धर्म होगा । आचार्य भिक्षु इस अभिमत के आलोचक थे । उनका सिद्धान्त था कि पीछे जो करेगा उसका फल उसे होगा किन्तु लड्डू खिलाने में धर्म नहीं है ।[3]

१—व्रताव्रत : १।१५

लोही खरड्यो जो पीतांबर, लोही सूं केम धोवायो रे।
तिम हिंसा में धर्म कीयां थी जीव उजलो किम थायो रे॥

२—वही : १४

आगे मेंह पाप थां थोड़ो सो पछे होसी धर्म अपारो रे।
साधप धाम करी इम हेते तिण्री सेवो पारो रे॥

३—बारह व्रत : ७।२१।३

कोइ कहे लाडू खवायां धर्म भी तप कर म्हारा काढ्या कर्म।
तिण्रै मतै औरां ने लाडू खवायां पछ लाडूओं सारु करे उपवास करायां॥
पछे तो उ कहसी म्हने दोष तिण लाडू खवायां धर्म न जाणो कोय।
लाडू खायां खवायां दोनूं पाप तिण में जिन मुनि सूं आख्यो छ आप॥

आगे धर्म करेगा इसलिये वर्तमान में उनके लिये साध्य के प्रतिकूल साधन का प्रयोग किया जाय, यह युक्तिसगत नही। दया उपादेय तत्त्व है। अहिंसा का पालन वही कर सकता है, जिसका मन दया से भीगा हुआ हो। पर साधन की विकृति से दया भी विकृत बन जाती है। एक आदमी मूली खा रहा है। दूसरे के मन मे मूली के जीवो के प्रति दया उत्पन्न हुई। उसने बल-प्रयोग किया और जो मूली खा रहा था उसके हाथ से वह छीन ली। दया का यह साधन शुद्ध नही है। हिंसक वही होता है जो हिंसा करे, जिसके मनमें हिंसा का भाव हो और अहिंसक भी वही होता है जो अहिंसा का पालन करे, जिसके मन में अहिंसा का भाव हो। बलात् किसी को हिंसक या अहिंसक नही बनाया जा सकता। भोग धर्म नही है, यह जानकर यदि कोई बलात् किसी के भोगों का विच्छेद करता है, तो वह अधर्म करता है।[१]

जिसके मन में दया का भाव उठा, उसके लिये दया का साधन है उपदेश। और जिसके मन में दया का भाव उत्पन्न करना है उसके लिये दया का साधन है हृदय-परिवर्तन। आत्मवादी का साध्य है मोक्ष—आत्मा का पूर्ण विकास। उसके साधन हैं सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र।[२] अज्ञानी को ज्ञानी, मिथ्यादृष्टि को सम्यक्दृष्टि और असयमी को सयमी बनाना साध्य के अनुकूल है।[३]

१—व्रतावृत १ ३३-३४

मूला गाजर ने काचो पांणी, कोइ जोरी दावें लें खोसी रे।
जे कोइ वस्त छोड़ावें विना मन, इण विध धर्म न होसी रे॥
भोगी ना कोइ भोगज रूधें, वले पाडें अन्तरायो रे।
माहामोहणी कर्मज बान्धें, दसाश्रुतखध माहिं बतायो रे॥

२—(क)-तत्वार्थ १।१सूत्र

सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग

(ख) अणुकम्पा ८ १७

ग्यांन दरसण चारित तप विना, ओर मुगिति रो नही उपाय हो।
छोडा मेला उपगार ससार ना, तिण थी सद गति किण विध जाय हो॥

३—अणुकम्पा ८ १९-२०

अग्यांनी रो ग्यांनी कीयां थकां, हुवों निश्चें पेला रो उधार हो।
कीयों मिथ्याती रो समकती, तिण उतारीयों भव पार हो॥
असजती ने कीयो सजती, ते तों मोष तणा दलाल हो।
तपसी कर पार पोहचावीयो, तिण मेट्या सर्व हवाल हो॥

यह साध्य और साधन की संगति है। इनकी विसंगति तब होती है जब या तो साध्य अनात्मिक होता है या साधन। यदि कोई व्यक्ति जीवों को मारकर, झूठ बोलकर, चोरी कर, मैथुन सेवन कर और धन देकर इसी प्रकार अठारह पापों का सेवन कर जीवों की रक्षा करता है तो यह जीव-रक्षा का सही तरीका नहीं है। यदि हिंसा के द्वारा जीव-रक्षा करने में थोड़ा पाप और बहुत धर्म हो थोड़े या छोटे जीव मारे जायें वह थोड़ा पाप और बहुत या बड़े जीवों की रक्षा हुई वह बहुत धर्म हो तो फिर असत्य आदि सभी अशुद्ध कार्यों के द्वारा ऐसा होगा। हिंसा के द्वारा जीव-रक्षा करने में पाप और धर्म दोनों माने जायें तथा अन्य अशुद्ध कार्यों के द्वारा जीव-रक्षा करने में कोरा पाप माना जाय यह न्याय नहीं है।[1]

एक जीव को मार दूसरे जीव की रक्षा करना यह सूत्र में कहीं नहीं कहा गया है। यह भगवान् की वाणी नहीं है।

अशुद्ध साधन की आलोचना करते हुए म० गाँधी ने लिखा है—"यह तो कहीं नहीं लिखा है कि अहिंसावादी किसी को मार डाले। उसका रास्ता तो बिल्कुल सीधा है। एक को बचाने के लिये वह दूसरे की हत्या नहीं कर सकता।"[3] जैन-धर्म की दया का रहस्य है—दुराचारी को समझा-बुझाकर

१—अनुकम्पा : ७।२१-२४

जीव मारै झूठ बोलनैं चोरी करनैं हो पर जीव बचाय।
बले करै अकार्य एहवा मरता राख्या हो मैथुन सेवाय॥
धन दे राखैं पर प्राण नें कोपादिक हो अठारैं सेव सेवाय।
ए सावद्य काम पोतैं करी पर जीवां नैं हो मरता राखैं ताय॥
जो हिंसा करे जीव राखीयां तिण मैं होसी हो धर्म ने पाप दोय।
तो इम अठारैंइ सेवनैं ए बचावा मैं हो मिश्र समझो लोय॥
जो एकण मैं मिश्र कहै सतरां मैं हो पाप थापै जोर।
उंधी सरधा रो न्याय मिलैं नहीं जब अणहुंती हो कर उठै झोड॥

२—वही : ७।५

जीव मारै जीव राखणा सूतर मैं हो नहीं भगवंत बैण।
उंधो पन्थ कुगुरां चलावीयो शुध न सूझै हो फूटा अंतर नैण॥

३—हिन्द स्वराज्य : पृ० ७५-७६

सदाचारी किया जाय। यदि कोई चोर, हिंसक, व्यभिचारी आदि है तो उसे उपदेश देकर अधर्मी से धर्मी बनाया जाय।[1]

महात्मा गाँधी के शब्दों में उनका (अहिंसक का) कर्त्तव्य तो सिर्फ विनम्रता के साथ समझाने-बुझाने में है।[2] यदि एक अशुद्ध साधन का प्रयोग किया जाय तो फिर नियन्त्रण की शृंखला ढीली हो जाती है।

आचार्य भिक्षु ने उस तथ्य को इन शब्दों मे व्यक्त किया है—दो वेश्याएँ कसाईखाने में गई, जीवों का सहार होते देख उनका मन अनुकम्पा से भर गया। दोनो ने दो हजार जीवो को बचाने का सकल्प किया। एक ने अपने आभूषण दिये और जीवो की रक्षा की, और दूसरी ने अनाचार का सेवन किया और जीवों की रक्षा की। आभूषण देकर जीवो की रक्षा करना, यह अहिंसा का शुद्ध साधन नही है। यदि इसे प्रयोजनीय माना जाय तो अनाचार सेवन कर जीवों की रक्षा करने को अप्रयोजनीय कहने का कोई तात्त्विक आधार नहीं रहता।[3]

: ७ : धन से धर्म नहीं

धन से धर्म नहीं होता, यह वाणी साधन-शुद्धि की भूमिका पर ही आलोकित हुई। भृगु ने अपने पुत्रो से कहा था—जिनके लिये लोग तप

१—अणुकम्पा . ५५

चोर हिंसक नें कुसीलीया, यांरें ताई रे दीधो साधां उपदेस।
त्यांनें सावद्य रा निरवद कीया, एहवो छें हो जिण दया धर्म रेस॥

२—हिन्द स्वराज्य पृ० ७६

३—अणुकम्पा ७ ५१-५४

दोय वेस्या कसाइवाडे गइ, करता देख्या हो जीवां रा संघार।
दोनूं जण्यां मतो करी, मरता राख्या हो जीव एक हजार॥
एकण गेंहणो देइ आपणों, तिण छोडाया हो जीव एक हजार।
दूजी छोडाया इण विधे, एकां दोयां हो चोथों आश्रव सेवार॥
एकण नें पाखडी मिश्र कहें, तो दूजी नें हो पाप किण विध होय।
जीव बरोबर बचावीया, फेर पडीयो हो ते तो पाप में जोय॥
एकण सेवायो आश्रव पांचमों, तो इण दूजी हो चोथो आश्रव सेवाय।
फेर पड्यों तो इण पाप में, धर्म होसी हो ते तो सरीषों थाय॥

करते हैं। ये धन, स्त्रियाँ, स्वजन और कामभोग तुम्हारे अधीन हैं, फिर किसलिए तुम तप करना चाहते हो ?[1]

भृगु-पुत्रों ने कहा—पिता! धर्माचरण में धन, स्त्री, स्वजन और कामभोगों का क्या प्रयोजन है? धर्म की आराधना में इनका कोई अर्थ नहीं है। हम श्रमण बनेंगे और अप्रतिबद्ध विहारी होकर धर्म की आराधना करेंगे।

आचार्य भिक्षु ने इसी को आधार मानकर कहा—देव, गुरु और धर्म—ये तीनों अनमोल हैं। इन्हें धन से खरीदा नहीं जा सकता। जो धन के द्वारा मोक्षधर्म की आराधना बतलाते हैं वे लोगों को फन्दे में डालते हैं।[2] उस समय ऐसी परम्परा थी कि जैन लोग कसाईखाने में जाते और कसाइयों को धन देकर बकरों को 'अमरिया' करवाते—छुड़वाते। आचार्य भिक्षु ने इस परम्परा की इसलिए आलोचना की कि यह दया का सही तरीका नहीं है। उन्होंने कहा—कसाई को समझा-बुझाकर हिंसा से विरत किया जाए, दया का सही साधन यही है।

चिन्तन की दो धाराएँ हैं—लौकिक और आध्यात्मिक। लौकिक धारा का जो साध्य है वह आध्यात्मिक धारा का नहीं है और साधन भी दोनों के भिन्न हैं। पहली का साध्य है जीवन का अभ्युदय और दूसरी का साध्य है आत्मा की मुक्ति। अभ्युदय पदार्थों की वृद्धि से होता है और मुक्ति उनके त्याग से होती है। अभ्युदय का साधन है परिग्रह। परिग्रह के लिए हिंसा करनी होती है। मुक्ति का साधन है त्याग—ममत्व का त्याग, पदार्थ का त्याग और अन्त में शरीर का त्याग। त्याग और अहिंसा में उतना ही सम्बन्ध है, जितना भोग और हिंसा में है। यदि हम दोनों धाराओं के साध्यों और साधनों

१—उत्तराध्ययन : १४।१६

धणं पभूयं सह इत्थियाहिं सयणा तहा कामगुणा पगामा।
तवं कए तप्पइ जस्स लोगो तं सव्वसाहीणमिहेव तुब्भं॥

—वही : १४।१७

धणेण किं धम्मधुराहिगारे सयणेण वा कामगुणेहि चेव।
समणा भविस्सामु गुणोहधारी बहिंविहारा अभिगम्म भिक्खं॥

२—अनुकम्पा : ७।११।१४

त्रिविधे त्रिविधे छकाय हणवी नहीं, उपदेश छै तो भगवन्त रो सार।
मोल लीधां धर्म कह जीव रो, ए पंद मोलवा रा कुगुरु कुधर बाजार॥
देव गुरु धर्म रतन तीनूं, संसार में दा जिन भाख्या अमोल।
मोल लीधां नहीं मिलै, साची सरधो दी आरा हिया री खोल॥

को अलग-अलग समझते है, तो हम बहुत सारी उलझनों से बच जाते हैं और उन्हें मिश्रित दृष्टि से देखते है तो हम उलझ जाते हैं और धर्म विकृत हो जाता है।

आचार्य भिक्षु ने कहा—धर्म के साधन दो ही हैं—सवर और निर्जरा या त्याग और तपस्या। यदि धन के द्वारा धर्म होता तो महावीर की धर्म देशना विफल नही होती। भगवान् को वैशाख शुक्ला १० को केवल-ज्ञान उत्पन्न हुआ। सभा मे केवल देवताओ की उपस्थिति थी, मनुष्य कोई नही था। भगवान् ने धर्म देशना दी। देवताओं ने धर्म अगीकार नहीं किया। कोई साधु या श्रावक नही बना, इसलिए माना जाता है कि भगवान् की पहली देशना विफल हुई।[1] यदि धन से धर्म होता तो देवता भी धर्म कर लेते। भगवान् की वाणी को विफल नही होने देते। देवताओं से व्रतों का आचरण होता नही और धन से धर्म नही होता, इसलिए भगवान् की वाणी विफल हुई।[2]

भगवान् की वाणी तब सफल हुई जब मनुष्यों ने व्रत ग्रहण किया, साधु और श्रावक बने।

धन उपकार का साधन है पर आध्यात्मिक उपकार का साधन बनने की क्षमता उसमें नही है। कोई समर्थ व्यक्ति किसी दरिद्र को धन देकर सुखी बना देता है, यह सासारिक उपकार है। सासारिक उपकार से ससार की परम्परा चलती है और आध्यात्मिक उपकार से ससार का अन्त होता है अर्थात् मुक्ति होती है। साध्य वही सधता है जिसे अनुकूल साधन मिले।[3]

१—अणुकम्पा १२ दू०५

देवता आगे वाणी वागरी, थित साचववा काम।
कोइ साध श्रावक हुवो नहीं, तिण सू वाणी निरफल गई आम॥

२—वही १२ दू० ६,७

जो धन थकी धर्म नीपजें, तो देवता पिण धर्म करत।
वीर वाणी सफली करे, मन माहे पिण हरष धरत॥
वरत पचखांण न हुवें देवता थकी, धन सू पिण धर्म न थाय।
तिण सू वीर वाणी निरफल गई, तिणरो न्याय सुणो चित्त ल्याय॥

३—वही ११ ३-५

ससार तणों उपगार करें छें, तिणरें निस्चेंइ ससार वधतो जाणो।
मोष तणो उपगार करें छे, तिणरे निस्चेंइ नेंडी दीसें निरवांणो॥
कोइ दलदरी जीव ने धनवंत कर दें, नव जात रों परिग्रहो देइ भर पूर॥
वले विविध प्रकारें साता उपजावें उणरो आवक दलदर कर दें दूर॥
छ काय रा सस्त्र जीव इविरती, त्यांरी साता पूछी ने साता उपजावें।
त्यांरी करें वीयावच विवध प्रकारें, तिणने तीर्थंकर देव तों नहीं सरावें॥

कोई लाखों रुपये देकर मरते हुए जीवों को छुड़ाता है यह संसार का उपकार है। यह आपका सिखाया हुआ धर्म नहीं है। इससे आत्मशुद्धि नहीं होती।[1]

आचार्य भिक्षु के चिन्तन का निचोड़ यह है कि परिग्रह, बल प्रयोग और असंयम का अनुमोदन—ये अहिंसात्मक तत्त्व नहीं हैं इसलिये मोक्ष के साधन भी नहीं हैं।

अपरिग्रह, हृदय-परिवर्तन और संयम का अनुमोदन—ये अहिंसात्मक तत्त्व हैं इसलिए ये मोक्ष के साधन हैं।

आचार्य भिक्षु ने अहिंसा या दया के बारे में जो चिन्तन दिया वह बहुत विशाल है। उसके कई पहलू हैं। पर उसका मुख्य पहलू साध्य-साधन की चर्चा है। आचार्य भिक्षु के समूचे चिन्तन को हम एक शब्द में बांधना चाहें तो उसे 'साध्य-साधनवाद' कह सकते हैं।

★

१—व्रताव्रत : १२.५

कोई जीव छुड़ावे लाखां दाम दे ते तो आसरो सीखायो नहीं धर्म हो।
ओ तो उपगार संसार रो तिणसूं पड़्यां न आत्मा आप धर्म हो॥

अध्याय : ४ :

मोक्ष-धर्म का विशुद्ध रूप

१ · चिन्तन के निष्कर्ष

जितना प्रयत्न पढने का होता है, उतना उसके आशय को समझने का नही होता। जितना प्रयत्न लिखने का होता है, उतना तथ्यों के यथार्थ सकलन का नहीं होता। अपने प्रति अन्याय न हो, इसका जितना प्रयत्न होता है, उतना दूसरों के प्रति न्याय करने का नही होता। गहरी डुबकी लगानेवाला गोताखोर जो पा सकता है, वह समुद्र की झाँकी लगानेवाला नहीं पा सकता।

आचार्य भिक्षु के विचारो की गहराई विहगावलोकन से नही मापी जा सकती। उन्होंने जो व्याख्याएँ दी, वे व्यावहारिक जगत् को कैसी ही क्यो न लगी, पर उनमें वास्तविक सच्चाई है। दृष्टान्त और निगमन तत्त्व को सरल ढग से समझाने के लिये होते हैं। इनका प्रयोग मन्द-बुद्धिवालो के लिये होता है। इनके द्वारा उलझनें भी बढती हैं। सिद्धान्त की रोचकता और भयानकता जैसी इनके द्वारा होती है, वैसी उसके स्वरूप में नहीं होती।

पक्ष और विपक्ष दोनों कोटि के दृष्टान्तो को छोडकर सिद्धान्त की आत्मा का स्पर्श किया जाय, तो आचार्य भिक्षु की सिद्धान्त-वाणी के मौलिक निष्कर्ष ये हैं :

(१) धर्म और अधर्म का मिश्रण नहीं होता।
(२) अशुद्ध साधन के द्वारा साध्य की प्राप्ति नहीं होती।
(३) बडों के लिये छोटे जीवों का घात करना पुण्य नहीं है।
(४) गृहस्थ और साधु का मोक्ष धर्म एक है।
(५) अहिंसा और दया सर्वथा एक हैं।
(६) हिंसा से धर्म नहीं होता।
(७) लौकिक और आध्यात्मिक धर्म एक नहीं है।
(८) आवश्यक हिंसा अहिंसा नही है।

७ मिश्र धर्म

कई दार्शनिकों की मान्यता है कि वनस्पति आदि एकेन्द्रियवाले जीवों के घात में जो पाप है उससे कई गुना अधिक पुण्य मनुष्य आदि बड़े प्राणियों के पोषण में है। एकेन्द्रिय की अपेक्षा पञ्चेन्द्रिय जीव बहुत भाग्यशाली है। अतः बड़े जीवों के सुख के लिए छोटों का घात करने में दोष नहीं है।[1]

किन्तु हिंसा की करणी में दया नहीं हो सकती और दया की करणी मे हिंसा नहीं हो सकती। जिस प्रकार धूप और छाँह भिन्न है उसी प्रकार दया और हिंसा भिन्न है।

दूसरी वस्तुओं मे मिलावट हो सकती है परन्तु दया में हिंसा की मिलावट नहीं हो सकती।। पूर्व और पश्चिम के मार्ग कैसे मिल सकते हैं ?[2]

मिश्र की व्यवस्था बहुत विचित्र है। इसमें मिलने और बिछुड़ने की व्यवस्था भी है। सब तत्त्व नहीं मिलते बिछुड़ते हैं। केवल पुद्गल ही एक ऐसा द्रव्य है जो मिलता है बिछुड़ता है।

दूसरे महायुद्ध के बाद मिश्रों की मात्रा बढ़ी है। यातायात की सुविधाएँ बढ़ी है। पर्यटन बढ़ा है। एक देश के लोग दूसरे देश के लोगों से अधिक मिलते-जुलते हैं। यह मिलन ही नहीं बढ़ा है किन्तु वैसा मिश्रण भी बढ़ा है जो नैतिकता और स्वास्थ्य दोनों के लिये हानिकर है। खाद्य में मिलावट होती है दूध में घी में औषधि में और भी न जाने किन किन पदार्थों में क्या-क्या मिलाया जाता है।

१—अनुकंपा : ९.१४-१

केइ कहै म्हे दया एकेंद्री पंचेंद्री जीवां रे तांइ जो।
एकेंद्री मार पंचेंद्री पोष्यां धर्म घणो तिण मांहि जी॥
एकेंद्री थी पंचेंद्रिय री मोटी घणा पुन भारी जी।
एकेंद्री मार पंचेंद्री पोष्यां म्हानें पाप न लागे लिगारी जी॥

२—वही : ९.७

हिंसा री करणी में दया नहीं छै, दया री करणी में हिंसा नांही जी।
दया नें हिंसा री करणी छै न्यारी ज्यूं तावड़ो नें छांही जी॥

३ वही : ९.७१

और वस्त में भेल हुवै तिण दया में नहीं हिंसा रो भेलो जी।
ज्यूं पूरब नें पिछम रो मारग किण विध खावै मेलो जी॥

आचार्य भिक्षु के जमाने में मिलावट का यह प्रकार नही था। खाद्य शुद्ध मिलता था। घी भी शुद्ध मिलता था। औषधि लेनेवाले लोग कम थे। दूध में पानी मिलाने की प्रथा कुछ पुरानी है पर आज जैसी व्यापक शायद नही थी। ऐसा क्यो होता है? यह प्रश्न महत्त्वपूर्ण है और इसलिये महत्त्वपूर्ण है कि धर्मप्रधान देश में ऐसा क्यों होता है? यहाँ इसकी लम्बी चर्चा मे नहीं जाना है। सक्षेप में इतना ही बस होगा कि जब स्वार्थ धर्म पर हावी हो जाता है तब ऐसा होता है, जब धर्म रूढि बन जाता है तब ऐसा होता है और जब धर्म पूजा जाता है तब ऐसा होता है।

आचार्य भिक्षु के सामने धर्म और अधर्म की मिलावट का प्रश्न था। यह प्रश्न कोई नया नहीं था। याज्ञिक लोग यज्ञ में धर्म और पाप दोनो मानते थे। उनका अभिमत यह रहा कि दक्षिणा देने में पुण्य होता है और पशु-वध में पाप।[1] यज्ञ मे पाप थोडा होता है और पुण्य अधिक। कई जैन भी मानने लगे कि दया की भावना से जीवों को मारने में पाप और धर्म दोनो होते हैं।[2] बडे जीव पर दया होती है यह धर्म और छोटे जीव की घात होती है वह पाप है। धर्म अधिक होता है और पाप थोडा, यह मिश्र दया है।

असयति को दान देने में धर्म-अधर्म दोनों होते हैं। यह मिश्रदान का सिद्धान्त है।[3] खाद्य-पेय में मिलावट का विरोध अणुव्रत के माध्यम से आचार्य श्री तुलसी कर रहे हैं। धर्म और अधर्म की मिलावट का विरोध तेरापथ के माध्यम से आचार्य भिक्षु ने किया। उन्होने कहा--प्रवृत्ति के स्रोत दो है—रागद्वेषात्मक भाव और वैराग्य भाव। पहले स्रोत से प्रवाहित प्रवृत्ति असम्यक् या अधर्म और दूसरे स्रोत से प्रवाहित प्रवृत्ति सम्यक् या धर्म कहलाती है।[4] अधर्म और धर्म की करनी अलग-अलग है। अधर्म करने से

१—सांख्य तत्त्व कौमुदी पृ० २८,३१

२—निह्नव चौपई ३ दू०२

कहे दया आंण नें जीव मारीयां, हुवें छें धर्म नें पाप।
ए करम उदें पथ काढीयो, भगवत वचन उथाप॥

३—निह्नव रास १४५

एक करणी करें तेहमें, नीपजें कहें छें धर्म नें पाप कें।
एहवी करें छें परूपणा, मिश्र दान री कीधीं छें थाप कें॥

४—व्रताव्रत ढा० १२, दू०२

दोय करणी ससार नें, सावद्य निरवद जांण।
निरवद करणी में जिण आगन्यां, तिण पामें पद निरवाण॥

धर्म नहीं होता और धर्म करने से अधर्म नहीं होता।[1] एक करणी में दोनों नहीं हो सकते।[2] धर्म और अधर्म ये दो ही मार्ग हैं। तीसरा कोई मार्ग नहीं है।[3]

दो ज्ञान एक साथ नहीं हो सकते। एक व्यक्ति नदी के जल में खड़ा है। सिर पर धूप है। पैरों को ठण्डक लग रही है और सिर को गर्मी की। धूप और जल का संयोग सतत है। पर सर्दी और गर्मी की अनुभूति सतत नहीं होती। जिस समय गर्मी की अनुभूति होती है उस समय सर्दी की नहीं होती और जिस समय सर्दी की होती है उस समय गर्मी की नहीं होती।

योग्यता की दृष्टि से मनुष्य पाँच इन्द्रियवाला होता है। एक काल में वह एक ही इन्द्रिय से जानता है। जब एक आदमी सूखा लड्डू खाता है तब उसे शब्द भी सुनायी देता है, उसे देखता भी है, उसकी गंध भी आती है रस भी चखता है। लगता है पाँचों की जानकारी या अनुभूति एक साथ हो रही है। परन्तु ऐसा होता नहीं। इन सबका काल भिन्न होता है। दो ज्ञान एक साथ नहीं हो सकते। दो क्रियायें एक साथ हो सकती हैं किन्तु अविरोधी हों तो। दो विरोधी क्रियाएँ एक साथ नहीं हो सकतीं। दो प्रकार के विचार एक साथ नहीं हो सकते।

सम्यक और असम्यक दोनों क्रियाएँ एक साथ नहीं हो सकतीं। अहिंसा और हिंसा धर्म और अधर्म का आचरण एक साथ नहीं किया जा सकता। सांसारिक उपकार सांसारिक व्यवस्था का मार्ग है। आत्मिक उपकार मोक्ष की साधना का मार्ग है। मिथ्यादृष्टि इन दोनों को एक मानता है सम्यग्दृष्टि इनको अलग-अलग मानता है।[4]

१—व्रताव्रत : ११.२६

पाप अठारें सेव्यां एकंत पाप छै सेव्यां नहीं धर्म होवो रे।
पाप धर्म री करणी छै न्यारी जिण जिण करणी नहीं जोवो रे॥

२—मिश्र चोपई : १ ८ १

पाप कीधां धर्म न नीपजे धर्म कीधां पाप न होय।
एक करणी में दोय न नीपजे ए संका म आणो कोय॥

३—श्रद्धा री चोपई : ११.५

धर्म अधर्म मारग दोय छै रे जिण तीजो पंथ न कोय रे।
तीजो मिश्र मिथ्याती कहे रे भाव हूवे भोरा म ढ्योय रे॥

४—अनुकम्पा : ११.२

संसार ने मोक्ष तणा उपगार, समदिष्टी हुवे ते न्यारा न्यारा जाणे।
जिण मिथ्याती ने खबर पड़े नहीं रूडी मिश्र सू मोह वश बांधी ताणे॥

३ : धर्म की अविभक्तता

अमृत सबके लिये समान है। झूठी खींचतान मत करो।[1]

मुक्ति का मार्ग सब के लिये एक है। मुमुक्षुभाव गृहस्थ में भी रहता है और मुनि में भी। मुनि गृहवास को छोड सर्वारम्भ से विरत रहता है, इसलिये वह मोक्ष-मार्ग की आराधना का पूर्ण अधिकारी होता है। एक गृहस्थ गृहवास में रहकर सर्वारम्भ से विरत नहीं हो पाता, इसलिये वह मोक्ष-मार्ग की आराधना के पथ का एक सीमा तक अधिकारी होता है। किन्तु मोक्ष-मार्ग की आराधना का पथ दोनों के लिये एक है।[2] अन्तर हैं केवल मात्रा का। साधु और श्रावक दोनों रत्नो की मालाएँ है—एक बडी और दूसरी छोटी।[3] साधु और श्रावक दोनो लड्डू हैं—एक पूरा और दूसरा अधूरा। साधु केवल व्रती होता है और श्रावक व्रताव्रती। व्रत की अपेक्षा से साधु केवल रत्नों की माला है। श्रावक व्रत की अपेक्षा से रत्नो की माला है, और अव्रतो की अपेक्षा वह कुछ और भी है। साधु के लिये अहिंसा महाव्रत है और श्रावक के लिये अहिंसा अणुव्रत है। अणुव्रत महाव्रत का ही एक लघुरूप है, उससे अतिरिक्त नहीं है। मोक्ष की आराधना के लिये जो साधु करता है या कर सकता है, वही कार्य एक श्रावक के लिये करणीय है। जो कार्य साधु के लिये करणीय नही है, वह मोक्ष-मार्ग की आराधना के लिये श्रावक के लिये भी करणीय नहीं है। श्रावक अव्रती भी होता है, इसलिये समाज-व्यवस्था की दृष्टि से उसके लिये वैसा भी करणीय होता है, जो एक साधु के लिए करणीय नहीं होता।

साधु के लिये हिंसा सर्वथा अकरणीय है, मोक्ष की दृष्टि से श्रावक के लिये भी वह सर्वथा अकरणीय है। किन्तु श्रावक कोरा मोक्षार्थी नहीं होता,

---

१—अणुकम्पा २ दू०३

साध श्रावक दोनूं तणी, एक अणुकपा जांण।
इमरत सहु नें सारिखों, कूडी मत करों ताण॥

२—व्रताव्रत . १२८

साध श्रावक नों एकज मारग, दोय धर्म बताया रे।
ते पिण दोनू आस्या माँहिं, मिश्र अणहूतो ल्याया रे॥

३—वही ११

साध नें श्रावक रतनां री माला, एक मोटी दूजी नांनी रे।
गुण गुथ्या च्यारू तीरथ नां, इविरत रह गइ कांनी रे॥

धर्म नहीं होता और धर्म करने से अधर्म नहीं होता।[1] एक करनी में दोनों नहीं हो सकते। धर्म और अधर्म ये दो ही मार्ग हैं। तीसरा कोई मार्ग नहीं है।[2]

दो ज्ञान एक साथ नहीं हो सकते। एक व्यक्ति नदी के बीच में खड़ा है। सिर पर धूप है। पैरों को ठंडक लग रही है और सिर को गर्मी भी। धूप और जल का संयोग संभव है। पर सर्दी और गर्मी की अनुभूति साथ नहीं होती। जिस समय गर्मी की अनुभूति होती है उस समय सर्दी की नहीं होती और जिस समय सर्दी की होती है उस समय गर्मी की नहीं होती।

स्थूलता की दृष्टि से मनुष्य पाँच इन्द्रियवाला होता है। एक काल में वह एक ही इन्द्रिय से जानता है। जब एक आदमी पूड़ा खा जाता है तब उसे शब्द भी सुनायी देता है, उसे देखता भी है, उसकी गंध भी आती है रस भी चखता है। लगता है पाँचों की जानकारी या अनुभूति एक साथ हो रही है। परन्तु ऐसा होता नहीं। इन सबका काल भिन्न होता है। दो ज्ञान एक साथ नहीं हो सकते। दो क्रियायें एक साथ हो सकती हैं किन्तु अविरोधी हों तो। दो विरोधी क्रियाएँ एक साथ नहीं हो सकतीं। दो प्रकार के विचार एक साथ नहीं हो सकते।

सम्यक् और असम्यक् दोनों क्रियाएँ एक साथ नहीं हो सकतीं। अहिंसा और हिंसा धर्म और अधर्म का आचरण एक साथ नहीं किया जा सकता। *सांसारिक उपकार सांसारिक व्यवस्था का मार्ग है। आत्मिक उपकार मोक्ष* की साधना का मार्ग है। मिथ्यादृष्टि इन दोनों को एक मानता है सम्यग्दृष्टि उन्हें अलग-अलग मानता है।

१—व्रताव्रत : ११।६

पाप अठारै सेव्यां एकंत पाप छ सेव्यां नहीं धर्म होवो रे।
पाप धर्म री करणी छै न्यारी जिण भिन्न करणी नहीं जोयो रे॥

२—विरत चौपई : १।८।१

पाप कीधां धर्म न नीपजै धर्म थी पाप न होय।
एक करणी में दोय न नीपजै ए संका म आणो कोय॥

३—श्रद्धा री चौपई : ११।५

धर्म अधर्म मारग दोय छै रे तिण तीजो पंथ न कोय रे।
तीजो मिश्र मिथ्याती थापे कहे रे, भार डूबे घोरां में जमोय रे॥

४—अनुकम्पा : ११।५२

संसार ने मोख तणा उपगार, समदिष्टी हुवे ते न्यारा न्यारा जाणे।
तिण मिथ्याती में खबर पड़े नहीं रूंची तिण सूं भेल धर्म कर ऊंधी ताणे॥

३ : धर्म की अविभक्तता

अमृत सबके लिये समान है। झूठी खीचतान मत करो।[1]

मुक्ति का मार्ग सब के लिये एक है। मुमुक्षुभाव गृहस्थ में भी रहता है और मुनि में भी। मुनि गृहवास को छोड सर्वारम्भ से विरत रहता है, इसलिये वह मोक्ष-मार्ग की आराधना का पूर्ण अधिकारी होता है। एक गृहस्थ गृहवास में रहकर सर्वारम्भ से विरत नहीं हो पाता, इसलिये वह मोक्ष-मार्ग की आराधना के पथ का एक सीमा तक अधिकारी होता है। किन्तु मोक्ष-मार्ग की आराधना का पथ दोनों के लिये एक है।[2] अन्तर है केवल मात्रा का। साधु और श्रावक दोनों रत्नो की मालाएँ है—एक बडी और दूसरी छोटी।[3] साधु और श्रावक दोनो लड्डू हैं—एक पूरा और दूसरा अधूरा। साधु केवल व्रती होता है और श्रावक व्रताव्रती। व्रत की अपेक्षा से साधु केवल रत्नों की माला है। श्रावक व्रत की अपेक्षा से रत्नों की माला है, और अव्रतो की अपेक्षा वह कुछ और भी है। साधु के लिये अहिंसा महाव्रत है और श्रावक के लिये अहिंसा अणुव्रत है। अणुव्रत महाव्रत का ही एक लघुरूप है, उससे अतिरिक्त नही है। मोक्ष की आराधना के लिये जो साधु करता है या कर सकता है, वही कार्य एक श्रावक के लिये करणीय है। जो कार्य साधु के लिये करणीय नही है, वह मोक्ष-मार्ग की आराधना के लिये श्रावक के लिये भी करणीय नहीं है। श्रावक अव्रती भी होता है, इसलिये समाज-व्यवस्था की दृष्टि से उसके लिये वैसा भी करणीय होता है, जो एक साधु के लिए करणीय नहीं होता।

साधु के लिये हिंसा सर्वथा अकरणीय है, मोक्ष की दृष्टि से श्रावक के लिये भी वह सर्वथा अकरणीय है। किन्तु श्रावक कोरा मोक्षार्थी नहीं होता,

---

१—अणुकम्पा २ दू०३

साध श्रावक दोनूं तणी, एक अणुकपा जांण।
इमरत सहु नें सारिखों, कूडी मत करों ताण॥

२—व्रताव्रत १ २८

साध श्रावक नों एकज मारग, दोय धर्म बताया रे।
ते पिण दोनूं आग्या मांहें, मिश्र अणहूतो ल्याया रे॥

३—वही ११

साध नें श्रावक रतना री माला, एक मोटी दूजी नांनी रे।
गुण गुथ्या च्यारू तीरथ नां, इविरत रह गइ कानी रे॥

अर्थ और काम का भी अर्थी होता है। अर्थ और काम मोक्ष के साधन नहीं हैं। मोक्ष के प्रति तीव्र मनोभाव किसी एक व्यक्ति में होता है और जिसके यह होता है उसके लिये मोक्ष के प्रतिकूल जो भी है वह करणीय नहीं रहता। किन्तु जिनका मनोभाव मोक्ष के प्रति इतना तीव्र नहीं होता वे मोक्ष के बाधक कार्यों को भी करणीय मानते हैं। मोक्ष में बाधा आए, यह उनकी चाह न भी हो किन्तु मोह का ऐसा उदय होता है कि वे मोक्ष के बाधक कार्यों को छोड़ने में अपने को असमर्थ पाते हैं। असामर्थ्य के कारण वे जीवन का जो मार्ग चुनते हैं उसमें उनके करणीय कार्यों की सीमा विस्तृत हो जाती है। मोक्ष का साधन धर्म है हिंसा में धर्म नहीं है भले ही फिर वह आवश्यक हो। आचार्य भिक्षु ने कहा—प्रयोजनवश या निष्प्रयोजन किसी भी प्रकार से हिंसा की जाय उससे हित नहीं होता। जो धर्म के लिये हिंसा को आवश्यक मानते हैं उनका बोधि-बीज—सम्यक्-दृष्टिकोण ही लुप्त हो जाता है।[1]

महात्मा गांधी ने आवश्यक हिंसा के विषय में लिखा है—किसान को अनिवार्य हिंसा करना है उसे मैंने कभी अहिंसा में गिनाया ही नहीं है। यह वध अनिवार्य होकर क्षम्य भले ही गिना जाय किन्तु अहिंसा तो निश्चय ही नहीं है।[2]

४ अपना-अपना दृष्टिकोण

कोई सुई की नोक में रस्सा पिरोये वह धागे कैसे पैठे ?

वैसे ही कोई आदमी हिंसा में धर्म बताये वह बुद्धि में कैसे समाये ?[3]

जो जीवों की हिंसा में धर्म बतलाते हैं वे जीवों के प्राणों की चोरी करते हैं। वे भगवान् की आज्ञा का लोपकर तीसरे व्रत का विनाश करते हैं।[4]

१—अनुकम्पा : ६.४८

अर्थ अनर्थ हिंसा कीधां अहेत रो कारण तासो जी।
धर्म रै कारण हिंसा कीधां बोध बीज रो नासो जी॥

२—अहिंसा : पृ० : ५

३—आचार री चौपई : ६.२८

सूइ नाके सिंधर पावें क्यों किम जाणी पेसें।
ज्यूं हिंसा मांहि धर्म परूपें ते सामीसाव न बेसें रे॥

४—अनुकम्पा : ९.१२

ज्यां जीवां नें मार्यां धर्म परूपें त्यां जीवां रो अदत्त लागी जी।
वले आग्या लोपी श्री अरिहंत नी तिण सूं तीजोई महाव्रत भाग्यो जी॥

कुछ लोग कहते थे—धर्म के लिये हिंसा की जाय, वह विहित है। आचार्य भिक्षु ने कहा—देव, गुरु और धर्म के लिये हिंसा करनेवाला मूढ है—वह जिन-मार्ग के प्रतिकूल जा रहा है। वह कुगुरु के जाल में फँसा हुआ है।[1]

जो सम्यक्दृष्टि होता है, वह धर्म के लिये हिंसा नहीं करता।[2] जैसे लहू से भरा हुआ पीताम्बर लहू से साफ नहीं होता, वैसे ही हिंसा से होनेवाली मलीनता हिंसा से नहीं धुलती।[3]

कुछ लोग कहते थे—धर्म के लिये जीव मारने में पाप इसलिये नहीं है कि उस समय मन शुद्ध होता है। मन शुद्ध हो तब जीव मारने में हिंसा नहीं है।

आचार्य भिक्षु ने कहा—जान बूझ कर प्रयत्नपूर्वक जीवों को मारने वालों के मन को शुद्ध बतलाते हैं और अपने आप को जैन भी कहते हैं, यह कितने आश्चर्य की बात है।[4]

कुछ लोग कहते थे—जीवों को मारे बिना धर्म नहीं होता। शुद्ध मन से जीवों को मारने में दोष नहीं है।[5]

कुछ लोग कहते थे—जीवों को मारे बिना मिश्र नहीं होता, जीव मरते हैं,

---

१—व्रताव्रत १ ३५

देव गुरु धर्म नें कारण, मूढ हणें छ कायो रे।
उलटा पडीया जिण मार्ग थी, कुगुरां दीया बैहकायो रे॥

२—वही १ ३७

वीर कह्यो आचारंग मांहें, जिण ओलखीयो तत सारो रे।
समदिष्टी धर्म नें कारण, न करें पाप लिगारो रे॥

३—वही १ ३९

लोही खरड्यो जो पितंबर, लोही सं केम धोवायो रे।
तिम हिंसा में धर्म कीयां थी, जीव उजलो किम थायो रे॥

४—वही ९ दू०३

जीव मारें छें उदीर नें, तिणरा चोखा कहें परिणाम।
ते विवेक विकल सुधबुध विनां, वले जैनी धरावें नाम॥

५—वही १२ ३४

केइ कहें जीवां ने मारयां विनां, धर्म न हुवें तांम हो।
जीव मारयां रो पाप लागें नहीं, चोखा चाहीजें निज परिणाम हो॥

उसका थोड़ा पाप होता है पर दूसरे बड़े जीवों को तृप्ति मिलती है यह धर्म है।[1]

आचार्य भिक्षु ने कहा—धर्म या मिश्र करने के लिये जीवों के प्राण भी लूटते हैं और मन को शुद्ध भी बतलाते हैं। यह कैसी विडम्बना है।

दुनिया में मात्स्य न्याय चल रहा है। बड़ी मछली छोटी मछली को खाती है वैसे ही बड़े जीव छोटे जीवों को खा रहे हैं। खाना स्वाभाविक-सा है पर इस कार्य में धर्म बतलाते हैं उनमें सुबुद्धि नहीं।[3]

नीतिशास्त्र कहता है—जब स्वाभाविक प्रवृत्ति और औचित्य में विरोध होता है तभी कर्तव्यता की आवश्यकता होती है और कर्तव्य-शास्त्र का निर्माण ऐसी ही स्थिति में होता है। यदि मनुष्य का कर्तव्य वही मान लिया जाय जिसकी ओर मनुष्य की सहज प्रेरणा है तो कर्तव्य अकर्तव्य के निर्णय की अपेक्षा ही नहीं रहेगी।

बड़े जीवों में छोटे जीवों का उपभोग करने की सहज प्रवृत्ति है पर इसमें औचित्य नहीं है इसलिये यह अकर्तव्य है।

कुछ लोग कहते थे—जीवों को जिलाना धर्म है।

आचार्य भिक्षु ने कहा—जो साधु हैं जिनकी रुचि मुक्ति से लग चुकी है वे जीने-मरने के प्रपञ्च में नहीं फँसते।[5]

१—व्रताव्रत: १२.१५

एक बडो जीव मार्‌यां बिना मिश्र न हुवे जो तास हो।
जिण जीव मारण री थापी करे, ते ते परिणामां रा काला हो॥

२—वही: १२.१६

केइ धर्म नें मिश्र करवा भणी छ काय रा करें घमसाण हो।
जिणरा थोड़ा परिणाम किहां थकी पर जीवां रा लूटे छै प्राण हो॥

३—अनुकम्पा: ७.१

मछ गलागल लोक में सबला ते निबलां नें खाय।
तिण में धर्म परूपियो कुगुरां कुबुध चलाय॥

४—नीतिशास्त्र: पृ० १९९

५—अनुकम्पा: २.४

जीवणो मरणो नहीं चावे साध कराने बंधावे छोडावे।
ज्यांरी लागी सुगत सूं तामें नहीं करें किसे सरणाली॥

गृहस्थ ममता में बैठा है और साधु समता में। साधु धर्म और शुक्ल ध्यान में रत रहते हैं, इसलिये मृतों की चिन्ता में नहीं फँसते।[1] गृहस्थ में ममत्व होता है, इसलिये वह जिलाने का यत्न करता है और मृत व्यक्तियों की चिन्ता करता है।

कुछ लोग कहते थे, जिसे उपदेश न दिया जा सके अथवा समझाने पर भी जिसका हृदय न बदले, उसे हिंसा से बल-पूर्वक रोकना भी धर्म है।

आचार्य भिक्षु ने कहा—एक के चाँटा मारना और दूसरे का उपद्रव मिटाना यह रागद्वेष का कार्य है।[2]

समाज में ऐसा होता है पर इसे धर्म की कोटि में नहीं रखा जा सकता। गृहस्थ जो कुछ करता है, वह धर्म ही करता है, ऐसा नहीं है। सामाजिक जीवन को एक अनात्मवादी भी सुचारुरूप से चला सकता है। समाज के क्षेत्र में दायित्व और कर्तव्य का जितना व्यापक महत्व है, उतना धर्म का नहीं। धर्म वैयक्तिक वस्तु है। यद्यपि उसका परिणाम समाज पर भी होता है, पर उसका मूल व्यक्ति-हित में सुरक्षित है। उसकी आराधना व्यक्तिगत होती है और वह व्यक्ति के ही पवित्र हृदय से उत्पन्न होता है। अनात्मवादी की दृष्टि में धर्म का कोई स्वत सम्मत मूल्य नहीं होता, जब कि समाज के प्रति होने वाले दायित्वों और कर्तव्यों का उसकी दृष्टि में भी मूल्य होता है। इसलिये यह तर्क भी बहुत मूल्यवान् नहीं है कि समाज के लिये आवश्यक कर्तव्यों को धर्म का चोगा पहनाये बिना समाज-व्यवस्था सुन्दर ढग से नहीं चल सकती। सम्भव है कभी ऐसा अनुभव किया गया हो, पर आज के बुद्धिवादी युग में ऐसा करना आवश्यक नहीं है।

कुछ लोग कहते थे—हम जीवों की रक्षा के लिए उपदेश देते हैं, इससे बहुत जीवों को सुख होता है।[3] आचार्य भिक्षु ने कहा—हम हिंसक को पाप से बचाने के लिये उपदेश देते हैं। एक व्यक्ति समझकर हिंसा को छोड़ता है, तब ज्ञानी

१—अणुकम्पा २ १२

गृहस्थ नों सरीर ममता में, साधु बेठों समता में।
रक्षा धर्म सुकल ध्यान ध्याई, मूआं गया फिकर न कांई॥

२—वही २ १७

एकण रे दे रे चपेटी, एकण रो दे उपद्रव मेटी।
ए तो राग द्वेष नों चालो, दसवीकालक संभालो॥

३—वही ५ १६-१७

हिवे कोइक अग्यांनी इम कहै, छ काय काजें हो यां छां धर्म उपदेस।
एकण जीव नें समझावीयां, मिट जाए हो घणा जीवां रो कलेश॥
छ काय घरे साता हुई, एहवो भाषें हो अणतीरथी धर्म।
त्यां भेद न पायो जिण धर्म रो ते तो भूला हो उदें आयो मोह कर्म॥

जानता है कि इसे सुख मिला है इसका जन्म-मरण का संकट टला है।[1]

एक सेठ की दो पत्नियाँ थी। एक धार्मिक थी और दूसरी धर्म का मर्म नहीं जानती थी। सेठ विदेश गया हुआ था। अकस्मात् वहीं उसकी मृत्यु हो गई। घर पर समाचार आया। एक पत्नी फूट-फूट कर रोने लगी। दूसरी पत्नी जो धार्मिक थी नहीं रोई। उसने समभाव रखा। लोग बहुत आए। उन्होंने देखा—एक पत्नी रो रही है दूसरी शान्त है। लोगों ने उसे सराहा जो रो रही थी। जो नहीं रो रही थी उसकी निन्दा की। उन्होंने कहा—"जो रोती है वह पतिव्रता है उसे पति के मरने का कष्ट हुआ है। यह पतिव्रता नहीं है इसे पति के मरने का कोई कष्ट नहीं है भला यह क्यों रोये ? यह तो चाहती थी कि पति मर जाए फिर इसके आँसू क्यों आये ?" संयोगवश साधु भी उधर से चले गये। उन्होंने उसे सराहा जो समभाव से बैठी थी। लौकिक दृष्टि से देखने वालों को वह अच्छी लग रही थी जिसकी आँखों में आंसू थे। लोकोत्तर दृष्टि से देखने वालों को वह अच्छी लग रही थी जिसकी आँखों में समभाव लहरा रहा था। यह अपना-अपना दृष्टिकोण है।[2]

कोई गृहस्थ किसी साधु से व्रत लेकर अपने घर जाने लगा। बीच में दो मित्र मिले एक ने कहा—जो व्रत लिया है उसे अच्छी तरह से पालना। दूसरे ने कहा—शरीर का ध्यान रखना कुटुम्ब का प्रतिपालन करना। इन दोनों मित्रों में जो व्रत में दृढ़ रहने की सलाह देता है वह धर्म का मित्र है और जो अव्रत के सेवन की सलाह देता है वह धार्मिक मित्र नहीं है।[3] यह अपना-अपना दृष्टिकोण है।

१—अनुकम्पा। ५.१८ १९

हिवें साध कहें तुमे सांभलों उपगारा रे हो साता किण किण थाय।
शुभ असुभ बांध्या ते भोगवें नहीं पाम्यां हो त्यां सुमत उपाय॥
इणना सुख दीधा उपाय सों तिणरें उदीया हो मेला असुभ कर्म पाप।
त्यांनी सांनें साता हुई पहलें मिट गया हो जनम मरण संताप॥

२—भिक्षु-दृष्टान्त। १३ पृष्ठ ५५

३—व्रताव्रत। २.२३ २७

श्राव भगिनि उपकन्या श्रावक तीर्था री एकज पांती रे।
इविरत के समस्त री माठी जिणमें म राखो भ्रांती रे॥
कोइ श्रावक गा व्रत लै साधां पें आयो निज घिर जायो रे।
मारग मां दोय मित्री मिलिया त दोनूं न्यारी न्यारी वातो रे॥
एक कह व्रत चोखा पाळें ज्यूं करें आठोइ जामों रे।
सुख अनादि रे भमतें भमतें पायों जिनवर धर्मो रे॥
एक कह तू आगार सैंवें सचितादिक सर्व संभाली रे।
मतन जतन कीजें दीया ते वधे कुटुम्ब तणी प्रतपाली रे॥
व्रत पालण री आज्ञा दीधी ए तो धर्म रो मित्री मोटो रे।
अविरत आगया दीधी तिण नें स्वांमी ना आंमें खोटो रे॥

एक राजा की रानी एक दिन गवाक्ष में बैठी-बैठी राजमार्ग की ओर झाँक रही थी। उस समय एक युवक उधर से जा रहा था, सयोगवश दोनो की दृष्टि मिल गई। युवक की सुन्दरता से रानी खिंच गई और रानी के सौन्दर्य ने युवक को मोह लिया। दोनों की तड़प ने उपाय निकाल लिया। वह युवक 'फूलाँ मालिन', जो रनिवास में पुष्पाहार लाया करती थी, की पुत्रवधू बन महलों में आने लगा। एक दिन इस षड्यन्त्र का भण्डाफोड हो गया। राजा ने रानी और युवक को इसलिये मृत्यु-दण्ड दिया कि वे दुराचार करते थे, मालिन को इसलिये मृत्यु-दण्ड दिया कि वह दुराचार करा रही थी। राजाज्ञा से वे बाजार के बीच बिठा दिये गये। राज-पुरुष गुप्तरूप से खडे थे। जो लोग उन्हें धिक्कारते वे चले जाते और जिन्होंने उनकी प्रशसा की, उन्हें पकड लिया गया। राजा ने उन्हें भी इसलिये मृत्यु-दण्ड दिया कि वे दुराचार का अनुमोदन कर रहे थे।

एक आदमी कोई कार्य करता है, दूसरा उसे करवाता है और तीसरा उसका अनुमोदन करता है—ये तीनो एक ही श्रेणी में आते हैं।

करना मन, वाणी, और काया से होता है।
कराना मन, वाणी और काया से होता है।
अनुमोदन मन, वाणी और काया से होता है।

इन्हें परिभाषा के शब्दो में करण-योग कहा जाता है। आचार्य भिक्षु ने कहा—जो लोग असयम के सेवन में धर्म बतलाते हैं, वे करण-योग का विघटन करते हैं।[1] एक व्यक्ति असयम का आचरण स्वय करे, दूसरा दूसरो से करवाये, और तीसरा करने वालो का अनुमोदन करे, ये तीनों एक कोटि में है।[2]

मनुष्य तीन प्रकार के होते हैं असयमी, सयमासयमी और सयमी। आचार्य भिक्षु के पास धर्म और अधर्म की कसौटी थी—सयम और असयम। जो कार्य सयम की कसौटी पर खरा उतरे, वह धर्म और खरा न उतरे, वह अधर्म। सयम धर्म है और असयम अधर्म। इस मान्यता में सम्भवत मतभेद नहीं है। मतभेद इसमें है कि किस कार्य को सयम में गिना जाय और किस को असयम में।

---

१ - व्रताव्रत १६
करण जोग विगटावें अग्यांनी, लाग रह्या मत झूठें रे।
न्याय करे समझावें तिण सू, क्रोध करें लडवा उठें रे॥
२—वही ५,११
इविरत सू वधे कर्म, तिणमें नहीं निस्चें धर्म।
तीनू करण सारिखा ए, ते विरला पारिखा ए॥

आ० भिक्षु के अनुसार जो संयमी नहीं है उनके जीवन निर्वाह के सारे उपक्रम असंयम में है और वे असंयम में हैं इसलिये धर्म नहीं है।[1]

कुछ लोग कहते थे—असंयमी स्वयं खाए वह पाप है और दूसरों को खिलाए वह धर्म है।

आचार्य भिक्षु ने कहा—असंयमी स्वयं खाए यह पाप और वह दूसरे असंयमी को खिलाए वह धर्म यह कैसे?[2] असंयमी का खाना यदि असंयम में है तो असंयम का सेवन करना कराना—दोनों एक कोटि के कार्य हैं। इनमें से एक को पाप एक को धर्म कैसे माना जाय?

असंयमी कोई वस्तु अपने अधिकार में रखता है वह पाप है तो उस वस्तु को दूसरे असंयमी के अधिकार में देने से धर्म कैसे होगा? यह दृष्टिकोण विशुद्ध आध्यात्मिक होने के कारण लौकिक दृष्टि से मेल नहीं खाता है। फिर भी उन्होंने जो तर्क उपस्थित किया है वह बहुत ही महत्वपूर्ण है। जो कोई भी व्यक्ति संयम और असंयम की कसौटी से धर्म और अधर्म को कसेगा उसके सामने वे ही निष्कर्ष आयेंगे जो आचार्य भिक्षु के सामने आए थे। हम करुणा की कसौटी से धर्म और अधर्म को परखें तो उन निष्कर्षों से हमारा मत भेद कैसे नहीं होगा जो संयम की कसौटी से परखने पर निकलें?

खानेवाले और लेनेवाले को पाप तथा खिलानेवाले और देनेवाले को धर्म होता है यह विचित्र कसौटी है।[3]

१—व्रताव्रत : १९ दू० ७-८

तिणरो खाणो पीणो ने पेंहरणो वले उपधि उपभोग परिभोग।
ते सगलाइ रस्ता छै इविरत में त्यांने भोगव्यां सावद्य जोग॥
भोगवे ते पेंहले करण पाप छै भोगवावे ते दूजे करण जाण।
सरावे ते करण तीसरे, सारां रे पाप लागे छै आण॥

२—वही : १७

खावां पाप कहावो धर्म ए अन्यतीर्थी री वायो रे।
विरत इविरत री खबर न कांइ भोलां ने दे भरमावो रे॥

३—वही : ७।१९।२४

जब जीमण वाला में पाप बतावें हिंसा करण वाला में कहे छै पापी।
जीमावण वाला में धर्म कहे छै, आ सरधा भेषधार्यां थापी॥
ते जब वाला में तो धर्म बतावें लेवाल में तो कहे पापज होवे।
तो धर्म करण में मूढ अग्यानी उण सामग्री में कांय खोवे॥

आचार्य भिक्षु ने कहा—भगवन् ! मैंने यह समझा है और इसी तुला से तोला है कि जिसे करना धर्म है उसका कराना और अनुमोदन करना भी धर्म है और जिसे करना अधर्म है उसका कराना और अनुमोदन करना भी अधर्म है।[1]

वृक्ष को काटने में पाप है तो उसे काटने के लिये कुल्हाडी देने और उसका अनुमोदन करने में भी धर्म नहीं है।[2]

गाँव जलाने में पाप है तो उसे गाँव जलाने के लिये अग्नि देने और उसका अनुमोदन करने में भी धर्म नहीं है।[3]

युद्ध करने में पाप है तो युद्ध करने के लिये शस्त्र देने और उनका अनुमोदन करने में भी धर्म नहीं है।

कुछ लोगों ने कहा—जीव को मारने में पाप है, मरवाने और मारने वाले का अनुमोदन करने में पाप है, वैसे ही कोई किसी को मार रहा हो उसे देखने में भी पाप है। आचार्य भिक्षु ने कहा—तीन बातें ठीक हैं पर देखने वाले को पाप कहना अनुचित है।[4] यदि देखने मात्र से पाप लगे तो पाप से बचा ही नहीं जा सकता। मारने, मरवाने और मारने का अनुमोदन करने से आदमी बच सकता है पर देखने से बचना उसके हाथ की बात नहीं है। जो सर्वज्ञ हैं वे सब कुछ देखते हैं। यदि देखने मात्र से पाप लगे तो वे उससे कैसे बच

१—व्रतात्रत १२ ३३

जीव खार्धां खवायां भलो जांणीयां, तीनंई करणां पाप हो।
आ सरधा परूपी छें आपरी, ते पिण दीधी आगन्यां उथाप हो॥

२—वही १५ ४८

रूख वाढणनें साझ कुहाडो दीधों, तिण कुहाडा सूं रूंख वाढें छें आंणों।
रूख वाढें तिणनें साज दीयों छें, त्यां दोयां नें एकत पापज जांणों॥

३—वही १५ ५०,५३

गांम बालण ने साझ अगन रों दीधों, तिणसूं गांम बालें छें आंणों।
गांम बालें तिणने साझ देवे तिणने, यां दोयां रो लेखों बरोबर जांणों॥
पाप करण रों साझ देसी तिणनें, एकत पाप लागें छें आंणों।
पाप रों साझ दीयां नहीं धर्म नें मिश्र, समझो रे समझो थे मूढ अयांणो॥

४—अणुकम्पा ४ दू० २

मार्‌यां मरायां भलो जांणीयां, तीनूंई करणां पाप।
देखण वाला नें जे कहें, ते खोटा कुगुर सराप॥

पायेंगे ? आचार्य भिक्षु ने जैन आगमों की इस सीमा का ही समर्थन किया कि करण कराबण और अनुमोदन—ये तीन ही धर्म और अधर्म के साधन हैं और नहीं।

५ धर्म और पुण्य

गेहूँ के साथ भूसा होता है पर भूसे के लिये गेहूँ नहीं बोया जाता। धर्म के साथ पुण्य का बन्धन होता है पर पुण्य के लिये धर्म नहीं किया जाता। जो पुण्य की इच्छा करता है उसके पाप का बन्ध होता है।[1]

धर्म आत्मा की मुक्ति का साधन है पुण्य शुभ परमाणुओं का बन्धन है। बन्धन और मुक्ति एक नहीं हो सकते धर्म और पुण्य भी एक नहीं हो सकते।

पाप लोहे की बेड़ी है और पुण्य सोने की। बेड़ी आखिर बेड़ी है भले फिर वह लोहे की हो या सोने की। धर्म बेड़ी को तोड़नेवाला है। आत्मा में मन वाणी और काया की चञ्चलता होती है तब तक परमाणु उसके चिपकते रहते हैं। प्रवृत्ति धर्म की होती है तो पुण्य के परमाणु चिपकते हैं और प्रवृत्ति अधर्म की होती है तो पाप के परमाणु चिपकते हैं। आत्मा पर जो अणुओं का आवरण होता है उसे हर कोई आदमी नहीं जान पाता। जिनकी दृष्टि विशुद्ध होती है वे उसे प्रत्यक्ष देख लेते हैं। धर्म इसलिये किया जाना चाहिए कि आत्मा इन दोनों आवरणों से मुक्त हो।

जैन-परम्परा में एक मान्यता थी कि अमुक कार्यों में धर्म होता है और अमुक-अमुक कार्यों में धर्म नहीं होता कोरा पुण्य होता है। आचार्य भिक्षु ने इसे मान्यता नहीं दी। उन्होंने कहा—कोरा पुण्य नहीं होता। पुण्य का बन्धन वहीं होता है जहाँ धर्म की प्रवृत्ति हो। धर्म मुक्ति का हेतु है इसलिये उससे पुण्य का बन्धन नहीं होता। मुक्ति और बन्धन दोनों साथ-साथ चलें तो मुक्ति हो ही नहीं सकती। धर्म की पूर्णता प्राप्त नहीं होती तब तक उसके साथ पुण्य का बन्धन होता है और धर्म की पूर्णता प्राप्त होती है तब पुण्य का बन्धन भी रुक जाता है। बन्धन रुकने के पश्चात् मुक्ति होती है।

पुण्य की स्वतन्त्र मान्यता के आधार पर जैनों में कई परम्पराएँ चल पड़ीं। कुछ लोग खिलाकर उपवास करवाते थे। उनका विश्वास था कि वे उपवास करेंगे इसका लाभ मिलेगा। आचार्य भिक्षु ने इसका तीव्र प्रतिवाद किया। उन्होंने यह स्मरण कराया कि धर्म खरीदने-बेचने की वस्तु नहीं है। उसका

१—नव पदारथ : पुण्य पदारथ १.५२

पुन तणी वंछा कीयां लागे छै एकंत पाप हो लाल।
तिण सूं दुःख पामे संसार में वधतो जावे सोग संताप हो लाल॥

विनिमय नहीं होता। दूसरे का किया हुआ धर्म और अधर्म अपना नहीं होता।[1] ऐसा विश्वास इतर धर्मों में भी रहा है। जैसे कुछ लोग समझने लगते है कि धर्मभाव और पुण्य खरीदने-बेचने की चीज है। ब्राह्मण को दक्षिणा दी उसने यज्ञ और जाप किया और उनका फल दक्षिणा देनेवाले के हिसाब में जमा हो गया। रोम के पोप की ओर से क्षमा-पत्र बेचे जाते थे। खरीदने वाले समझते थे कि ये क्षमा-पत्र उन्हें परलोक में पाप-दण्ड से बचा देंगे। इस प्रकार का विश्वास दार्शनिक बन्धन है।[2]

आचार्य भिक्षु ने इस विचार के विरुद्ध जो क्रान्ति की, वह उनकी एक बहुमूल्य देन है। इससे मनुष्य को अपनी पूर्ण स्वतन्त्र सत्ता और अपने पुरुषार्थ में विश्वास उत्पन्न होता है।

: ६ : प्रवृत्ति और निवृत्ति

जो रात को भटक जाय उसे आशा होती है कि दिन में मार्ग मिल जायगा। पर जो दुपहरी ही में भटक जाए, वह मार्ग मिलने की आशा कैसे रखे ?[3]

प्रवृत्ति और निवृत्ति की चर्चा उतनी ही पुरानी है, जितना पुराना धर्म का उपदेश है। यथार्थवादी युग में प्रवृत्ति का पलड़ा भारी होता है और आत्मवादी युग में निवृत्ति का। प्रवृत्ति का अर्थ है चचलता और निवृत्ति का अर्थ है स्थिरता, चञ्चलता का अभाव। मनुष्य का सारा प्रयत्न योग और वियोग के अन्तराल में चलता है। वह प्रिय का योग चाहता है और अप्रिय का वियोग। चाह मन में उत्पन्न होती है। मन को इन्द्रियाँ प्रेरित करती हैं। वे पाँच हैं—स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र। स्पर्श, रस, गन्ध, रूप और शब्द इनके विषय है। हमारा ग्राह्य-जगत इतना ही है। इन्द्रियाँ अपने-अपने विषय को जानती है और अपनी जानकारी मन तक पहुँचा देती हैं। मन के पास कल्पना-शक्ति है। वह इन्द्रियों के द्वारा प्राप्त जानकारी के अनुसार ज्ञात पदार्थों में प्रियता और अप्रियता की कल्पना करता है। फिर वह इन्द्रियों को अपने प्रिय विषय की ओर प्रेरित करता है—रत करता है, अप्रिय विषय से विरत

१—व्रताव्रत १९२७

पैला रौं लगायो तो पाप न लागें, आपरो लगायों पापज लागें जी।

सावद्य जोग दोयां रा जूआ जूआ वरत्या, त्यांरों पाप लागो छें सागें जी॥

२—दर्शन संग्रह (डा० दीवानचन्द) पृ० ५९

३—व्रताव्रत १६२

राते भूला तो आसा राखें, दीयां सूझसी सूला रे।

कहो नें आसा राखें किण विध, दीया दोपारां रा भूला रे॥

करता है—क्लिष्ट करता है। यह है इन्द्रिय और मन के विनिमय का क्रम। आध्यात्मिक जगत् में इसी को प्रवृत्ति कहा जाता है। निवृत्ति का अर्थ है—इन्द्रिय और मन का संयम राग-द्वेष का नियन्त्रण। निवृत्ति का अर्थ नहीं करना ही नहीं है। इन्द्रिय और मन पर नियन्त्रण करने में भी उतना ही पुरुषार्थ आवश्यक होता है जितना किसी दूसरी प्रवृत्ति करने में चाहिये। बल्कि कहना यह चाहिये कि निवृत्ति में प्रवृत्ति की अपेक्षा कहीं अधिक उत्साह और पुरुषार्थ की आवश्यकता होती है। निवृत्ति का अर्थ केवल निषेध या निष्क्रियता नहीं है। कोरा निषेध हो ही नहीं सकता। आत्मा में प्रवृत्ति होती है, उसका अर्थ है सांसारिक निवृत्ति। आत्मा में निवृत्ति होती है उसका अर्थ है सांसारिक प्रवृत्ति। प्रवृत्ति धार्मिक भी होती है पर वह न कोरी प्रवृत्ति होती है और न कोरी निवृत्ति।

जहाँ अशुभ की निवृत्ति और शुभ की प्रवृत्ति हो उसे धार्मिक प्रवृत्ति कहा जाता है। मोक्ष का अर्थ है—दुःख की निवृत्ति। किन्तु दुःख की निवृत्ति ही मोक्ष नहीं है। कोरा अभाव शून्य या तुच्छ होता है। दुःख की निवृत्ति का अर्थ है—अनन्त सुख की प्राप्ति। मोक्ष में पौद्गलिक सुख-दुःख का निवर्तन होता है, इसलिये कहा जाता है—मोक्ष का अर्थ है दुःख की निवृत्ति। मोक्ष में आत्मिक सुख का सतत उदय रहता है। इस दृष्टि से कहा जा सकता है कि मोक्ष का अर्थ है—सुख की प्रवृत्ति। प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों सापेक्ष हैं। जिस पुरुषार्थ का प्रेरक सांसारिक उत्साह होता है और जहाँ संयम की निवृत्ति होती है, उसे हम प्रवृत्ति कहते हैं और जिस पुरुषार्थ का प्रेरक धार्मिक उत्साह होता है और जहाँ असंयम की प्रवृत्ति नहीं होती उसे हम निवृत्ति कहते हैं। इस प्रकार प्रवृत्ति और निवृत्ति का प्रयोग सापेक्ष दृष्टि से किया जाता है।

कहा जाता है कि जीवन का क्रम भावात्मक होना चाहिये निषेधात्मक नहीं। इसमें जैन-दर्शन की असहमति नहीं है। मोक्षवादी जैसे जीवन का अन्तिम उद्देश्य मोक्षात्मक सुखानुभूति मानते हैं वैसा भावात्मक क्रम नहीं होना चाहिये और आत्मवादी जैसे जीवन का अन्तिम उद्देश्य अनन्त सुख की प्राप्ति मानते हैं वैसा भावात्मक क्रम होना चाहिये।

आचार्य भिक्षु जैन-दर्शन के भावात्मक क्रम को आधार मानकर चले। इस लिए उन्होंने असंयम की निवृत्ति और संयम की प्रवृत्ति पर अधिक बल दिया। इसीलिए कुछ लोग कहते हैं कि उनका दृष्टिकोण निषेधात्मक है। उन्होंने 'मत मारो' की भाषा में ही तत्त्व का प्रतिपादन किया है।

इस उक्ति मे सच्चाई है भी और नही भी है। किसी एक का निषेध है, सका अर्थ किसी एक का विधान भी है। एक धार्मिक व्यक्ति असयत प्रवृत्ति गे अस्वीकार करता है, इसका अर्थ निषेध ही नही है, सयत प्रवृत्ति का स्वीकार ी है। असयम की भूमिका से देखा जाय तो वह निषेध है और सयम की मूमिका से देखने पर वह विधान है।

आचार्य विनोवा भावे ने निवृत्ति-धर्म पर एक टिप्पणी की है। एक भेंट का उल्लेख करते हुए उन्होंने लिखा है :

"हमें कुछ ऐसे जैन भाई मिले, जो कहते हैं कि दया करना निवृत्ति-धर्म के खिलाफ है, आध्यात्मिकता के खिलाफ है। निवृत्ति-धर्म कहता है कि हर एक को अपना प्रारब्ध भोगना चाहिये। हम किसी बीमार की सेवा करने जाते है तो उसके प्रारब्ध में दखल देते हैं। मैं बीमार हुआ तो मान लो कि पिछले जन्म की या इस जन्म की कुछ गलती होगी। इस जन्म की गलती हो तो उसे सुधारूँगा। पुराने जन्म की हो तो प्रारब्ध भोगूँगा। इस तरह मैं अपने लिए कह सकता हूँ, लेकिन लोग दु खी व बीमार पडे हैं और मैं ज्ञानी होकर उनसे यह कहूँ कि तुम्हारा प्रारब्ध क्षय हो रहा है, उसमें मैं सेवा करके दखल नही दूँगा, क्यो कि मैं निवृत्ति-प्रधान हूँ तो क्या कहा जाएगा ? अध्यात्मवादी सेवा को ही गलत मानते हैं। यह बात ठीक है कि सेवा में अहकार हो तो वह सेवा अध्यात्म के खिलाफ होगी, लेकिन क्या यह जरूरी है कि सेवा में अहकार हो ही ? सेवा निष्काम भी हो सकती है। भगवद्गीता ने हमें निष्काम सेवा करना सिखाया है, परन्तु लोगो ने आध्यात्मिक सेवा को यहाँ तक निवृत्ति-परायण बताया कि उनका सेवा या नीति से कोई सम्बन्ध नही रहा है।"[1]

"हम किसी बीमार की सेवा करने जाते हैं तो उसके प्रारब्ध में दखल देते हैं"—यह मान्यता किसी भी जैन सम्प्रदाय की नही है। जैनों का कर्मवाद कारण-सामग्री को भी मान्यता देता है। सुख के अनुकूल कारण-सामग्री मिलने पर सुख का उदय भी हो सकता है। यही बात दुख के लिये है। हम किसी के सुख-दु ख के निमित्त बन सकते हैं।

विनोवाजी ने जिस तथ्य की आलोचना की है, वह या तो उनके सामने सही रूप में नहीं रखा गया या उन्होंने उसे अपनी दृष्टि से ही देखा है। इस चर्चा का मूल आचार्य भिक्षु के इस जीवन-प्रसग में है .

एक व्यक्ति ने पूछा—भीखणजी ! कोई बकरे को मार रहा हो उससे बकरे को बचाया जाय तो क्या होगा ?

१—विनोवा प्रवचन २६, मई, १९५९

मारनेवाले को समझा कर हिंसा छुड़ाई जाय तो धर्म होगा—आचार्य भिक्षु ने कहा। अंगुली को आगे बढ़ाते हुए कहा—ये दो अंगुलियाँ हैं। एक को मारनेवाला मान लो और एक को बकरा। इन दोनों में कौन डूबेगा? मरनेवाला या मारनेवाला? नरक में कौन जाएगा? मरनेवाला या मारनेवाला?

प्रश्नकर्ता ने उत्तर दिया—मारनेवाला।

साधु डूब रहा हो उसे तारे या नहीं डूब रहा हो उसे? मारनेवाले को समझाए या मरनेवाले को?

मारनेवाले को समझाकर हिंसा छुड़ाए यह धर्म है मोक्ष का मार्ग है।

दूसरा उदाहरण देते हुए आचार्य भिक्षु ने कहा

एक साहूकार के दो पुत्र हैं। एक ऋण लेता है और दूसरा ऋण चुकाता है। पिता किसको बर्जेगा? ऋण लेनेवाले को या ऋण चुकानेवाले को?

साधु सब जीवों के पिता के समान है। मारनेवाला अपने सिर ऋण करता है और मरनेवाला ऋण चुकाता है। साधु मारनेवाले को समझाएगा कि तू ऋण क्यों ले रहा है। इससे भारी होकर डूब जाएगा अधोगति में चला जाएगा। इस प्रकार मारने या ऋण लेनेवाले को समझा कर हिंसा छुड़ाना धर्म है।

यह हृदय-परिवर्तन की मीमांसा है। आचार्य भिक्षु का दृष्टिकोण यह था कि मरनेवाले को बचाने का यत्न किया जाय यह मनुष्य की सहज प्रकृति है। किन्तु मारनेवाले को हिंसा के पाप से बचाने का यत्न किया जाय इसमें धर्म की सुरक्षा है।

विनोबाजी ने कहा है—सेवा में अहंकार होगा तो वह सेवा अध्यात्म के खिलाफ होगी।

कोई कहता है—सेवा में स्वार्थ हो तो वह सेवा अध्यात्म के खिलाफ होगी।

कोई कहता है—सेवा में असंयम हो तो वह सेवा अध्यात्म के खिलाफ होगी।

अध्यात्मवादी सेवा को ही गलत नहीं मानते हैं। वे इसे अनेक दृष्टिकोणों से देखते हैं और उसे अलग भूमिकाओं में विभक्त करते हैं। डाक्टर मनुष्य समाज की सेवा के लिए नये-नये प्रयोग करते हैं। महात्मा गांधी ने उनकी आलोचना की है। वे लिखते हैं—"अस्पताल तो पाप की जड़ हैं उनके कारण मनुष्य अपने शरीर की तरफ से लापरवाह हो जाता है और अनीति बढ़ती है। अंग्रेज डाक्टर तो सबसे बढ़कर जीते हैं। वे शरीर की झूठी सावधानी के लिये ही हर साल लाखों जीवों की जान लेते हैं। जीवित प्राणियों पर वे विभिन्न प्रयोग करते हैं। यह बात किसी धर्म में नहीं है।

१—भिक्षु-दृष्टान्त : १२८ पृष्ठ ५४

हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, पारसी सभी धर्म यही कहते हैं कि मनुष्य के शरीर के लिए इतने जीवो की जान लेने की जरूरत नही है।"[1]

युद्ध में लडने वाले सिपाहियो की सेवा को भी युद्ध को प्रोत्साहन देना माना है।[2]

आचार्य भिक्षु ने कहा—असयमी की सेवा असयम को और सयमी की सेवा सयम को प्रोत्साहन देती है। इन दृष्टियो से यह स्पष्ट है कि सेवा न तो अध्यात्म के सर्वथा अनुकूल है और न सर्वथा प्रतिकूल। सामाजिक भूमिका में रहनेवालों के लिये समाज-सेवा का निषेध नही हो सकता, भले फिर वह असयम की सीमा में ही क्यो न हो। मुनियो के लिए भी समाज-सेवा का सर्वथा विधान नहीं किया जा सकता, क्योकि उनकी भी अपनी कुछ सीमाएँ है।

समाज और अध्यात्म की रेखाएँ समानान्तर होते हुए भी मिलती नही है। कोई सामाजिक प्राणी के लिये असयम की निवृत्ति की उपयोगिता है और वह भी एक सीमा तक। पर आध्यात्मिक प्राणी के लिये असयम की निवृत्ति परम धर्म है और वह भी निस्सीम रूप में। प्रवृत्ति और निवृत्ति की भाषा और उनका महत्त्व सबके लिये एक रूप नहीं है।

दया शब्द दो भावनाओ का प्रतिनिधित्व करता है। एक भावना सामाजिक है और दूसरी धार्मिक। समर्थ व्यक्ति असमर्थ व्यक्ति के कष्टो से द्रवित हो उठता है, यह दीन के प्रति उत्कृष्ट की सहानुभूति है। इस भावना की अभि-व्यक्ति दया शब्द से होती है। एक व्यक्ति समर्थ या असमर्थ सभी जीवों को कष्ट देने का प्रसग आते ही द्रवित हो जाता है। यह एक आत्मा की शेष सब आत्माओं के प्रति समता की अनुभूति है। इस भावना की अभिव्यक्ति भी दया शब्द से होती है। इसलिये यह कहना उचित है कि दया शब्द दो भावनाओ का प्रतिनिधि है। द्रवित होने के बाद दो कार्य हैं—कष्ट न देना और कष्टो का निवारण करना। कष्ट न देना यह सर्व सम्मत है और कष्टों का निवारण करना इसमें कई प्रश्न उपस्थित होते है। इसीलिये आचार्य भिक्षु ने कहा—सब दया दया पुकारते हैं। दया-धर्म सही है पर मुक्ति उन्ही को मिलेगी जो उसे पहचान

१—हिन्द स्वराज्य पृ० ९२

२—हिन्दी नवजीवन २० सितम्बर १९२८ का अङ्क

कर उसका पालन करे।[1] दया के नाम से भुलावे में मत आओ। गहराई में पैठ उसे परखो।[2]

कष्ट निवारण क्यों किया जाय? कैसे किया जाय? और किसका किया जाय? इसका एक उत्तर नहीं है।

समाज-धर्म की भूमिका से इसका उत्तर मिलता है—कष्टों का निवारण जीवों को सुखी बनाने के लिये किया जाय जैसे-तैसे किया जाय और मनुष्यों का किया जाय और जहाँ मनुष्य-जाति के हित में बाधा न पड़े वहाँ औरों का भी किया जाय।

आत्म-धर्म की भूमिका से इसका उत्तर मिलता है—कष्टों का निवारण आत्मा को पवित्र बनाने के लिये किया जाय शुद्ध साधनों के द्वारा किया जाय और सबका किया जाय।

व्यास के शब्दों में अष्टादश पुराणों का सार यह है कि परोपकार से पुण्य होता है और पर-पीड़न से पाप।

किन्तु यह एक सामान्य सिद्धान्त है। दूसरों को पीड़ित नहीं करना चाहिये यह संयमवाद है। इसलिये आत्म-धर्म की भूमिका में यह सर्वथा स्वीकार्य है वैसे समाज-धर्म की भूमिका में नहीं है। समाज के क्षेत्र में असंयम को भी स्थान प्राप्त है। दूसरों का उपकार करना चाहिये यह समाजवाद है। इसलिये समाज-धर्म की भूमिका में यह सर्वथा स्वीकार्य है वैसे आत्म-धर्म की भूमिका में नहीं है।

आत्म-धर्म के क्षेत्र में असंयम को स्थान प्राप्त नहीं है। समाज के क्षेत्र में असंयम का सर्वथा परिहार नहीं हो सकता और धर्म के क्षेत्र में असंयम का लेशतोऽपि स्वीकार नहीं हो सकता। इस दृष्टि को ध्यान में रख कर आचार्य भिक्षु ने दया और उपकार को दो भागों में विभक्त किया—लौकिक दया और लोकोत्तर दया, लौकिक उपकार और लोकोत्तर उपकार, समाज-धर्म और आध्यात्मिक धर्म।

जिसमें संयम और असंयम का विचार प्रधान न हो किन्तु करुणा ही प्रधान

१—अनुकम्पा : ४ दू. १

दया दया सहको कहै, ए दया धर्म छै ठीक।
दया ओलख नैं पालसी त्यांनैं मुक्त नजीक॥

२—वही : १ दू. ४

भोळाई मत भूलज्यो अनुकम्पा रै नाम।
कीजो अंतर पारखा ज्यूं सीझै आतम काम॥

हो वह लौकिक दया है । जहाँ करुणा सयम से अनुप्राणित हो, वह लोकोत्तर दया है । अग्नि में जलते हुए को किसी ने बचाया, कूएँ में गिरते हुए को किसी ने उबारा—यह लौकिक उपकार है ।[1]

जन्म-मृत्यु की अग्नि में झुलसते हुए को सयमी बना किसी ने बचाया, पाप के कुए में गिरते हुए को उपदेश देकर किसी ने उबारा—यह लोकोत्तर उपकार है ।[2]

किसी दरिद्र को धन-धान्य से सम्पन्न कर सुखी बना देना लौकिक उपकार है ।[3] एक आदमी तृष्णा की आग में झुलस रहा है, उसे उपदेश देकर शान्त बना देना लोकोत्तर उपकार है ।[4]

एक आदमी अपने माता-पिता की दिन-रात सेवा करता है, उन्हें मन-इच्छित भोजन कराता है, यह लौकिक उपकार है ।[5] एक आदमी अपने माता-पिता को ज्ञान, श्रद्धा और चारित्र की प्राप्ति हो वैसा यत्न करता है, उन्हें धार्मिक सहयोग देता है, यह लोकोत्तर उपकार है ।[6]

१—अणुकम्पा ८ २

कोइ द्रवे लाय सूं बल्तों राखें, द्रवे कूवो पडता नें झाल बचायों ।
ओं तो उपगार कीयो इण भव रों, जे ववेक विकल त्यांने खबर न कायो ॥

२—वही ८ ३

घट में ग्यांन घाल नें पाप पचखावें, तिण पडतो राख्यो भव कूआ मांह्यों ।
भावे लाय सू बल्ता नें काढ़े रिखेस्वर, ते पिण गेहलां भेद न पायो ॥

३—वही ·११ ४

कोइ दल्दरी जीव नें धनवत कर दें, नव जात रो परिग्रहो देइ भर पूर ।
वलें विविध प्रकारें साता उपजावें, उणरो आश्रक दल्दर कर दें दूर ॥

४—वही ११ १५

किणरें तिसणा लाय लागी घर भीतर, ग्यांनादिक गुण बलें तिण मांय ।
उपदेश देइ तिणरी लाय बुझावें, रूम रूंम में साता दीधी थपराय ॥

५—वही ११ १८

मात पिता री सेवा करे दिन रात, वले मन मान्यां भोजन त्यांने खवावें ।
वले कावड कांधे लीयां फिरे त्यांरी, वले बेहूं टंका रो सिनांन करावें ॥

६—वही ११ १९

कोई मात पिता नें रूडी रीतें, भिन भिन कर नें धर्म सुणावें ।
ग्यांन दरसण चारित त्यांनें पमावें, कांम भोग शब्दादिक सर्व छोडावें ॥

कहा जाता है—लौकिक और आध्यात्मिक का भेद डालकर जीवन को विभक्त करना अच्छा नहीं है। इससे लौकिक कर्तव्य और धर्म के बीच खाई हो जाती है। आचार्य भिक्षु का दृष्टिकोण था कि इनके बीच खाई है। कुछ लोगों का कहना था कि लौकिक कर्तव्यों को धर्म से पृथक मानने पर उनके प्रति उपेक्षा का भाव बढ़ता है और दायित्व को निभाने पर कठिनाइयाँ उत्पन्न होती है। आचार्य भिक्षु का दृष्टिकोण यह था कि इन्हें एक मानने से मोक्ष के सिद्धान्त पर प्रहार होता है। जिस कार्य से संसार बढ़े, बन्धन हो उसी से यदि मुक्ति मिले तो फिर बन्धन और मुक्ति को पृथक मानने की क्या आवश्यकता है। बन्धन और मुक्ति यदि एक हों तो उनकी सामग्री भी एक हो सकती है और यदि वे भिन्न हों तो उनकी सामग्री भी भिन्न होगी। रागद्वेष और मोह से संसार का प्रवाह चलता है तो उससे मुक्ति कैसे प्राप्त होगी? वीतराग भाव से मुक्ति प्राप्त होती है तो उससे संसार कैसे चलेगा? दोनों भिन्न दिशाएँ हैं। उन दोनों को एक बनाने का यत्न करने पर भी हम एक नहीं बना सकते। लौकिक दृष्टि से देखा जाय तो कर्तव्य का स्थान सर्वोपरि है। आध्यात्मिक दृष्टि से देखा जाय तो सर्वोपरि स्थान है धर्म का। दोनों को एक दूसरे की दृष्टि से देखा जाय तो उलझन बढ़ती है। दोनों को अपनी-अपनी दृष्टि से देखा जाय तो अपने-अपने स्थान में दोनों का महत्व है। लौकिक दया के साथ अहिंसा की व्याप्ति नहीं है इसलिए अहिंसा और दया भिन्न तत्त्व हैं। लोकोत्तर दया और अहिंसा की निश्चित व्याप्ति है। जहाँ दया है वहाँ अहिंसा है और अहिंसा है वहाँ दया है। इस दृष्टि से अहिंसा और दया एक तत्त्व हैं।

:७ दया

कुछ सम्प्रदाय के साधुओं ने कहा—हम जीव बचाते हैं जीवरक्षा नहीं बचाते। आचार्य भिक्षु ने कहा—जीव बचाने की बात रहने दो उन्हें मारना तो छोड़ो। आपने कहा—एक पहरेदार था। उसने पहरा देना छोड़ दिया और चोरी करने लगा। उसने गाँव के लोगों से कहा—मैं पहरा देता हूँ इसलिए मुझे पैसा दो। लोग बोले—पहरा देना दूर रहा चोरी करना ही छोड़ दो।[1]

प्राणिमात्र के प्रति जो संयम है वह अहिंसा है। प्राणिमात्र के प्रति जो मैत्री भाव है उन्हें पीड़ित करने का प्रसंग आते ही हृदय में एक कम्पन हो जाता है वह दया है। दया के बिना अहिंसा नहीं हो सकती और अहिंसा के बिना दया नहीं हो सकती। इन दोनों में अविनाभाव सम्बन्ध है। सब जीवों

१—भिक्खु-दृष्टान्त : ६५, पृ १२७

के प्राणातिपात से दूर रहना पहला महाव्रत है।[1] इसमें समूची दया समायी हुई है। किसी भी प्राणी को भयाकुल न करना यह अभयदान है। यह भी दया या अहिंसा का ही दूसरा नाम है।[2]

स्वय न मारना, दूसरो से न मरवाना और मारने वाले को अच्छा न समझना —यह अभयदान है और यही दया है।[3] जिसे अभयदान की पहचान नही है, वह दया को नही पहचानता।[4]

: ८ : दान

कुछ लोग आकर बोले—भीखणजी! आपका अभिमत ही ऐसा है कि आप के श्रावक दान नहीं देते।

आचार्यवर ने कहा—एक शहर में चार बजाज दुकान करते थे। उनमें से तीन बजाज बारात में गये, पीछे एक बजाज रहा। कपड़े के ग्राहक बहुत आए। कहिये, इससे बजाज राजी होगा या नाराज?

वे बोले—वह तो प्रसन्न ही होगा।

आचार्यवर ने कहा – तुम कहते हो, भीखणजी के श्रावक दान नही देते, तो जितने याचक हैं वे सब तुम लोगों के पास ही आयेंगे। धर्म और पुण्य का लाभ सारा का सारा तुम्ही को प्राप्त होगा, यह तुम लोगों के लिये खुशी की

१—अणुकम्पा : ९ ८

आदीज दया छै महावरत पहलों, तिणमें दया दया सर्व आई जी।
ते पूरी दया तो साध जी पालै, बाकी दया रही नहीं कांई जी॥

२—वही . ९ ४

त्रिविधे त्रिविधे छ काय जीवां नें, भय नहीं उपजावें तांमो जी।
ए अभयदांन कह्यो भगवते, ते पिण दया रो नांमो जी॥

३—वही ६ दू० १-२

पोतें हणें हणावें नहीं, पर जीवां ना प्रांण।
हणें जिणनें भलो जांणें नहीं, ए नव कोटी पचखांण॥
ए अभय दांन दया कही, श्री जिण आगम मांय।
तो पिण ढूंढ उठावीयों, जैंनी नांम धराय॥

४—वही ६ दू० ३

अभय दांन न ओलख्यों, दया री खबर न कांय।
भोला लोकां आगलें, कूड़ा चोज लगाय॥

जाते हैं। फिर तुम किसलिये कोसने आए हो कि भीखणजी के श्रावक दान नहीं देते ?[1]

दान भारतीय साहित्य का सुपरिचित शब्द है। इसके पीछे अनुग्रह का मनोभाव रहा है। एक समर्थ व्यक्ति दूसरे असमर्थ व्यक्ति को दान देता है इसका अर्थ है वह उस पर अनुग्रह करता है। दान की परम्परा में असंख्य परिवर्तन हुए हैं। प्रत्येक परिवर्तन के पीछे एक विशिष्ट मान्यता रही है। प्राचीन काल में राजाओं की ओर से दानशालाएं चलती थीं। दुर्भिक्ष आदि में उनकी विशेष व्यवस्था की जाती थी। पाद-यात्रियों को भी आहार आदि का दान दिया जाता था। सार्वजनिक कार्यों के लिये दान देने की प्रथा सम्भवतः नहीं होती थी। उस समय दान समाज-व्यवस्था का एक प्रधान अंग था। उससे पूर्वकाल में जाते हैं तो दान जैसा कोई तत्त्व था ही नहीं। न कोई लेने वाला था और न कोई देनेवाला। भगवान् ऋषभनाथ ने दीक्षा से पूर्व दान देना चाहा पर कोई लेने वाला नहीं मिला।

भगवान् ऋषभनाथ श्रमण बने। एक वर्ष तक उन्हें कोई भिक्षा देनेवाला नहीं मिला। उसके पश्चात् श्रेयांस कुमार ने उन्हें इक्षुरस का दान दिया।

साधुओं को दान देने का प्रवर्तन हुआ तब वह प्रश्न मोक्ष से जुड़ गया। धर्म का अंग बन गया। समाज में दीन-वर्ग की सृष्टि हुई तब दान करुणा से जुड़ गया।

याचकों ने दान की गाथाएं गाईं। दान सर्वोपरि तत्त्व बन गया। इससे अकर्मण्यता बढ़ने लगी तब दान के लिये पात्र अपात्र की सीमाएं बनने लगीं। इससे दाताओं का गर्व बढ़ने लगा तब दाता के स्वरूप की मीमांसा की जाने लगी।

मांगनेवालों का क्षोभ बढ़ गया तब देय की मीमांसा होने लगी। दान के कारणों का विशद विवेचन हुआ। भारतीय साहित्य के हजारों लाखों पृष्ठ इन मीमांसाओं से भरे हैं। आचार्य भिक्षु ने इस अध्याय में कुछ पृष्ठ और जोड़ दिये। उन्होंने दान का मोक्ष और संसार की दृष्टि से विश्लेषण किया। उनका अभिमत है कि जो लोग समूचे दान को धर्म मानते हैं वे धर्म की कसौटी को नहीं जान पाए हैं। वे आक और गाय के दूध को एक मान रहे हैं। मोक्ष का

१—भिक्खु-दृष्टान्त १४६ पृ ६

२—व्रताव्रत : २.१४

सगलां दान में धर्म कहै तो, त्यांरी विध धर्म ठेली रे।
आक नें गाय रो दूध अग्यानी कर दीधो भेल सभेली रे॥

मार्ग सयम है। असयमी को दान दिया जाय और उसे मोक्ष का मार्ग वताया जाय—यह विरोध है। दान को धर्म वताए विना लोग नही देते, इसीलिये सम्भव है दान को धर्म वताया जाता है।[1]

आचार्य भिक्षु की समूची दान-मीमांसा का सार इन शब्दों में है कि सयमी को दिया जाय, वह दान मोक्ष का मार्ग है और असयमी को दिया जाय, वह दान ससार का मार्ग है। सयमी को दान देने से ससार घटता है और असयमी को दान देने से ससार बढता है।[2]

• दाता वही होता है जो सयमी या असयमी सभी को दे।[3] वह पग-पग पर सयमी-असयमी की परख करने नहीं बैठता। अपने व्यवहार में जिसे सयमी मानता है, उसे मोक्ष-मार्ग की वुद्धि से देता है और जिसे असयमी मानता है, उसे ससार-मार्ग की वुद्धि से देता है।

निश्चय दृष्टि का निर्णय व्यवहार-दृष्टि से भिन्न भी हो सकता है। सम्भव है जिसे सयमी माना जाय, वह वास्तव में असयमी हो और जिसे असयमी माना जाय, वह वास्तव में सयमी हो। यह व्यक्तिगत वात है। सिद्धान्त की भाषा में यही कहा जा सकता है कि सयमी को दान देना मोक्ष का मार्ग है और असयमी को दान देना ससार का मार्ग है। सयमी और असयमी की परिभाषा अपनी-अपनी हो सकती है। आचार्य भिक्षु की भाषा यह है कि जो पूर्ण अहिंसक हो वह सयमी है और जो मनसा, वाचा, कर्मणा, कृत, कारित और अनुमति से अहिंसा का पालन न करे वह असयमी है।

असयमी मोक्ष-दान का अधिकारी नहीं है। जिसके कुछ व्रत हो, वह सयमासयमी भी मोक्ष-दान का अधिकारी नही है,। एक आदमी छह काय के जीवों को मारकर दूसरों को खिलाता है, यह हिंसा का मार्ग है।[4] जीवों को मारकर खिलाने में पुण्य बतलाते है, वे सिंह की भाँति निर्भय होकर नाद

१—व्रताव्रत २ १५

इविरत में दांन ले मैंलां रीं, मोष रो मार्ग बतावें रे।
धर्म कह्यां विण लोक नहीं दे, जब कूर कंपट चलावें रे॥

२—वही १६ ५७

सुपातर नें दीयां संसार घटें छे, कुपातर नें दीयां वधें ससार।
ए वीर वचन साचा कर जांणो, तिणमें संका नहीं छे लिगार रे॥

३—वही १६ ५०

पातर कुपातर हर कोइ नें देवें, तिणनें कहीजें दातार।
तिणमें पातर दांन मुगत रो पावडीयों, कुपातर सू रूलें ससार रे॥

४—वही १७ ९

कोइ छ काय जीवां रो गटकों करावें, अथवा छ काय मारें ने खवावें।
ओ जीव हिंसा नों राहज खोटों, तिण में एकंत धर्म ने पुन बतावे॥

नहीं करते । उन्हें पूछने पर वे मेमने की भाँति काँपने लग जाते हैं ।[1] जो जीवों को मार कर खिलाने में पुण्य बतलाते हैं उनकी जीभ तलवार की तरह चलती है ।

एक बाईसंपी सम्प्रदाय का साधु आचार्य भिक्षु का व्याख्यान सुनने आया । वह व्याख्यान सुन बहुत प्रसन्न हुआ । वह बहुत बार आने लगा । एक दिन उसने आचार्य भिक्षु से कहा—आप अपने श्रावकों को कह दें कि मुझे रोटी खिलाए । भिक्षु बोले श्रावकों को कह कर तुम्हें रोटी खिलाएँ, चाहे हम अपनी रोटी तुम्हें दें इसमें क्या अन्तर है ? तब उसने कहा – तो आप दान का निषेध करते हैं ? आचार्य भिक्षु ने कहा—देनेवालों को मनाही करो चाहे किसीसे छीन लो इसमें क्या अन्तर है ।[3]

लोग कहते हैं—आचार्य भिक्षु ने दान का निषेध किया है । आचार्य भिक्षु का अभिमत है कि निषेध करने में और छीनने में कोई अन्तर नहीं है । उनकी वाणी है – दाता दे रहा हो लेनेवाला ले रहा हो उस समय साधु उसे रोके तो लेने वाले को अन्तराय होता है इसलिये साधु वैसा नहीं कर सकता । साधु वर्तमान में असंयमी-दान की न तो प्रशंसा करे, और न उसका निषेध करे किन्तु मौन रहे । धर्म-चर्चा के प्रसंग में दान के यथार्थस्वरूप का विश्लेषण करे ।

१—व्रताव्रत : १७.२१

जीव जिवायां में पुन परूपें ते जीह तणी परें चले न गूंचे।
परम्पर कहिता भूंडा दीसें त्यांने प्रश्न पूछ्यां माडर जिम धूजें॥

२—वही : १७.२२

जीव जिवायां में पुन परूपें त्यां दुष्टां में कहिवें मिलवें अकारज।
त्यांरी जीभ नहीं तरवार छूं छीजी त्यां मिथ्यात रा खिण खिण सींचवी कारज॥

३—भिक्खु-दृष्टान्त : २४५, पृष्ठ १८

४—व्रताव्रत : ३.१७-२१

दातार दान देवें तिण कालें लेणवाल लेवें घर प्रीतो रे।
जब साध कहे तूं मत दें इणनें अजोगतो नहीं इण रीतो रे॥
जो दान देता नें साध वरजे तो लेणवाल रे पड़े अंतरायो रे।
अन्तराय दीधां फल कहवा कालें तिण सूं वरज न करें इण न्यायो रे॥
अन्तराय रूं डरतो साधु न बोलें और परमारथ मत जाणो रे।
ते जिण मूल रो वरतमान कालें बुधवंत लीजो पिछाणो रे॥
उपदेश देवें साध तिण कालें धूप पांणी पर्यूं करे नीवेरो रे।
जिणी श्रावकां ब्यार तीरथ में जिण जिण मिलें अंधेरो रे॥
तीन भाषा साधु नहीं बोलें पुन छें अथवा पुन नांही रे।
ते वरत्यां वरतमान काल आसरी दें दोष देखो मन मांही रे॥

इस पर भी कुछ लोगो ने कहा—दान को धर्म न मानने का अर्थ ही उसका निषेध है। आचार्य भिक्षु ने इसका समाधान किया कि दान देने वाले को कोई कहे कि तू मत दे, वह दान का निषेध करने वाला है। किन्तु दान जिस कोटि का हो उसी कोटि का बतलाया जाय, वह निषेध नही है। वह ज्ञान की निर्मलता है। भगवान् ने असयमी को दान देने में धर्म नही कहा, इसका अर्थ यह नही कि भगवान् ने दान का निषेध किया है। इसका अर्थ इतना ही है कि जिसका जो स्वरूप था, वही बतला दिया।

किसी व्यक्ति ने साधु से कहा—तुम मेरे घर भिक्षा लेने मत आना। दूसरे व्यक्ति ने साधु को गालियाँ दी। जिसने निषेध किया उसके घर साधु भिक्षा लेने नही जाता। जिसने गालियाँ दी उसके घर भिक्षा लेने जाता है। कारण यह है कि निषेध करना और कठोर वचन बोलना एक भाषा में नही समाते। इसी प्रकार दान देने का निषेध करना और दान को अधर्म बतलाना भिन्न-भिन्न भाषाएँ है। इनका एक ही भाषा में समावेश नही होता।[1]

1—व्रताव्रत २ ३९-४३

दांन देतां नें कहे तू मत दें इण ने, तिण पाल्यों निषेद्यों दांनो रे।
पाप हुतो ने पाप बतायों, तिणरो छें निरमल ग्यांनो रे॥
असजती ने दांन दीयां में, कहि दीयों भगवत पापो रे।
त्यां दांन ने वरज्यों निषेद्यों नांहीं, हुती जिसी कीधी थापो रे॥
किण ही साधु ने कह्यों आज पछें तुं, म्हारें घर कदे मत आयो रे।
किणही एक करडा वचनज बोल्यो, हिवें साधु किसें घर जायों रे॥
साधां ने वरज्यों तिण घर में न पेसें, करडा कह्या तिण घर माहें जावे रे।
निषेद्यों ने करडों बोल्यां ते, दोनू एकण भाषा में न समावे रे॥
ज्यू कोइ दांन देतां वरज राखें, कोइ दीधां में पाप बतावें रे।
ए दोनूइं भाषा जुदी जुदी छें, ते पिण एकण भाषा में न समावें रे॥

अध्याय : ५

क्षीर-नीर

१ : सम्यक् दृष्टिकोण

जीभ की दवा आँख में डालने से और आँख की दवा जीभ के लगाने से आँख फूट जाती है और जीभ कट जाती है — दोनों इन्द्रियाँ नष्ट होती हैं। इसी प्रकार जो अधर्म के कार्य का धर्म में और धर्म के कार्य का अधर्म में समावेश करता है वह दोनों प्रकार से अपने आपको धोखा देता है।[1]

दया, दान और परोपकार—ये तीन तत्त्व सामाजिक जीवन के आधार-स्तम्भ रहे हैं। धर्म की आराधना में भी इनका स्थान महत्त्वपूर्ण रहा है। समाज की व्यवस्था बदलती रहती है। जिस समाज में उच्चता और नीचता निसर्ग-सिद्ध मानी जाती थी उसमें दया, दान और परोपकार को विकसित होने का अवसर मिला। आज समाज की व्यवस्था बदल चुकी है। इसमें समान अधिकार का सिद्धान्त विकास पा रहा है। बड़ों और छोटों के वर्ग-भेद को इसमें स्थान नहीं है। जब बड़ों और छोटों का भेद मिटने लगता है तब दया, दान और परोपकार सिमटने लग जाते हैं। आचार्य भिक्षु ने जब दया-दान का विश्लेषण किया था उस समय की समाज-व्यवस्था में उन्हें बहुत महत्त्व दिया जाता था। आज की व्यवस्था में 'समान अधिकार' देने का जो महत्त्व है वह दया दिखाने का नहीं। जो महत्त्व सहयोग का है वह दान और परोपकार का नहीं है।

---

१ व्रताव्रत : ४।४-५

जीभ री औषद आंख्यां में घाल्यां आंख्यां री औषद जीभ में लाग्यां रे
तिण री आंख्यां फूटी ने जीभ फाटी दोनूं ई दीसे खोय जाग्यां रे॥
ज्यूं अधर्म रा धंधा धर्म मांहि नाख्या धर्म रा धंधा अधर्म में नाख्या रे।
दोनूं ई विध कर्म बांधे अज्ञानी दुरगत मांहि जावा रे॥

समाज-व्यवस्था परिवर्तनशील है, इसलिए परिवर्तन भी स्वाभाविक है। एक व्यवस्था में उसके अनुरूप तत्व विकसित होते हैं और दूसरी व्यवस्था में वे बदल जाते हैं। धर्म अपरिवर्तनशील है। उसमें दया, दान और परोपकार की मान्यता व्यवस्था से उत्पन्न नही है। वह सयम से जुडी हुई है। सयम का विकास हो वही दया हो सकती है, वही दान और वही परोपकार। जो वर्तमान के असयम को सहारा दे, वहाँ न दया है, न दान और न परोपकार। आचार्य भिक्षु ने कहा—यह लोकोत्तर भाषा है। लौकिक भाषा इससे भिन्न है और बहुत भिन्न है। उसके पास मानदण्ड है, भावो का आवेग या मानसिक कम्पन और लोकोत्तर भाषा सयम के मानण्ड से माप कर बोलती है।

आचार्य भिक्षु के इस अभिमत के स्पष्टीकरण के बाद जो प्रश्न उपस्थित हुए, उनमें सर्वाधिक प्रभावशाली प्रश्न सेवा का है। नि स्वार्थ भाव से सेवा करना क्या धर्म नही है? क्या हृदय की सहज स्फूर्त करुणा धर्म नहीं है? इसे अधर्म कहना भी तो बहुत बडे साहस की बात है। जिस समाज में रहना और उसी की सेवा को धर्म न मानना बहुत ही विचित्र बात है। पर हममें से बहुत लोगों ने समाचार-पत्रो में बहुत बार यह शीर्षक पढा होगा—"यह सच है, आप माने या न माने।" बहुत सारी बातें ऐसी होती हैं जिनपर सहसा विश्वास नहीं होता, पर वास्तव में वे सच होती हैं और कुछ बातें ऐसी होती है, जो वस्तुत सच नही होती, परन्तु उनपर सहसा विश्वास हो जाता है। समाज-सेवा में धर्म नहीं, यह सुनते ही आदमी चौंक उठता है। किसी भी वस्तु के स्थूल दर्शन के साथ सच्चाई का लगाव इतना नहीं होता, जितना कि सस्कारो का होता है।

जो लोग सेवा मात्र को धर्म मानते थे। उनको लक्षित कर महात्मा गाँधी ने कहा—"जो मनुष्य बन्दूक धारण करता है और जो उसकी सहायता करता है दोनों में अहिंसा की दृष्टि से कोई भेद दिखाई नही पडता। जो आदमी डाकुओं की टोली में उसकी आवश्यक सेवा करने, उसका भार उठाने, जब वह डाका डालता हो तब उसकी चौकीदारी करने, जब वह घायल हो तो उसकी सेवा करने का काम करता है, वह उस डकैती के लिये उतना ही जिम्मेवार है, जितना कि वह खुद डाकू। इस दृष्टि से जो मनुष्य युद्ध में घायलों की सेवा करता है, वह युद्ध के दोषों से मुक्त नहीं रह सकता।"[1]

"अहिंसा की दृष्टि से शस्त्र धारण कर मारने वालों में और नि.शस्त्र रहकर घायलों की सेवा करनेवालों में कोइ फर्क नहीं देखता हूँ। दोनों ही लडाई में

१—आत्मकथा भा० ४

शामिल होते हैं और उसीका काम करते हैं दोनों ही लड़ाई के दोष के दोषी हैं।"[1]

गांधीजी ने युद्ध के सम्बन्ध में जो विचार व्यक्त किए, वे ही विचार आचार्य भिक्षु ने जीवन-युद्ध के बारे में व्यक्त किये। सामाजिक क्रान्ति की दृष्टि से जहाँ मनुष्यों को दूसरे मनुष्यों को मारने की खुली छूट होती है, वह युद्ध है। मोक्ष की दृष्टि से जहाँ एक जीव में दूसरे जीवों को मारने की भावना या वृत्ति होती है वह युद्ध है। अर्थात् जीवन ही युद्ध है। युद्ध में लगे जीवों की सहायता करनेवाला युद्ध के दोषों से मुक्त नहीं रह सकता—यह महात्मा गांधी की वाणी है। आचार्य भिक्षु की वाणी है—असंयममय जीवन-युद्ध में संलग्न जीवों की सहायता करनेवाला असंयममय जीवन-युद्ध के दोषों से मुक्त नहीं रह सकता। पहली बात सूक्ष्म है और दूसरी सूक्ष्मतर। इसलिए इस पर सहसा विश्वास नहीं होता पर इनकी सचाई में सन्देह नहीं किया जा सकता।

आचार्य भिक्षु ने कहा—कोई व्यापारी घी और तम्बाकू दोनों का व्यापार करता था। एक दिन वह किसी कार्यवश दूसरे गाँव गया। उसका पुत्र दुकान में बैठा। उसने देखा कि एक बर्तन में घी पड़ा है और एक में तम्बाकू। दोनों आधे-आधे थे। उसने सोचा—पिताजी कितने कम समझ हैं बिना मतलब दो पात्र रोक रखे हैं। उसने घी का पात्र उठाया और तम्बाकू में उड़ेल दिया। उन्हें मिलाकर राब सी बना दी। ग्राहक आया तम्बाकू लेने। उसने वह राब देखी। ग्राहक बिना लिए लौट गया। दूसरा ग्राहक आया घी लेने। वही राब उसके सामने आई। वह भी खाली लौट गया। जितने भी ग्राहक आए, वे सारे के सारे रीते हाथ लौट गए। वह पात्र खाली न हो तब तक दूसरा पात्र निकालने की पिताजी मनाही कर गए थे उसे समूचे दिन इस समस्या का सामना करना पड़ा।[2]

उस व्यक्ति को भी इसी प्रकार की कठिनाई का सामना करना पड़ता है जो आध्यात्मिक और लौकिक कार्यों का मिश्रण करता है।

आचार्य भिक्षु के अभिमत में 'मिश्रण' अनुचित है। इसका विरोधी विचार समाज-सेवियों का है। उनके अभिमत में सामाजिक नैतिक और आध्यात्मिक पहलुओं को अलग-अलग मानना अनुचित है। इन दिनों हम लोगों में जीवन के टुकड़े करने की आदत पड़ गई है। सामाजिक पहलू अलग नैतिक पहलू

१—हिन्दी नवजीवन : २ सितम्बर १९२४

२—व्रताव्रत : ४ १

जिम घीव नै तमाखू भेलां पिण आछा बिकत न जाई रे।
ज्यूं धर्म संसार मैं भेलें ते दोनूं ही वसत बिगाड़े रे॥

अलग, आध्यात्मिक पहलू अलग—इस तरह अलग-अलग पहलू बनाए गये हैं। उसका परिणाम यह हुआ है कि सामाजिक क्षेत्र में काम करने वाले नीति-विचार के बारे में सोचते नहीं, नीति का काम करने वाले समाज के मसले हाथ में नहीं लेते और अध्यात्मवादी दोनो की तरफ ध्यान नहीं देते। इस तरह टुकडे करके हम ने जीवन को छिन्न-विछिन्न कर दिया है।[1]

ये दोनों विचार परस्पर विरोधी हैं। एक की दिशा है कि सामाजिक और आध्यात्मिक कार्यों का मिश्रण मत करो, दूसरे की दिशा है कि इन्हें बाँट कर जीवन के टुकडे मत करो। इन दोनो दिशाओं में से प्रश्न उठते हैं—क्या जीवन विभक्त ही है ? क्या जीवन अविभक्त ही है ? एकान्त की भाषा में इसका उत्तर नही दिया जा सकता। और यदि दिया जाय तो वह सच नही होगा। इसका यथार्थ उत्तर होगा कि वह विभक्त भी है और अविभक्त भी। वह विभक्त इसलिए है कि वे सारी प्रवृत्तियाँ एक ही जीवन में होती हैं। विभाजन प्रवृत्तियों का होता है उनके आधार का नही। एकता आधार में होती है। उनकी प्रवृत्तियों में नही। दोनों के समन्वय की भाषा यह होगी कि आधार होने के नाते जीवन एक है, अविभक्त है। और उसमें अनेक कार्य होते हैं, इस दृष्टि से वह अनेक है, विभक्त है। भगवान् महावीर ने तीन पक्ष बतलाए—अधर्म-पक्ष, धर्म-पक्ष और मिश्र-पक्ष।[2] हिंसा और परिग्रह से जो किसी प्रकार निवृत्त नही हैं, वे अधर्म-पक्ष में समाते हैं, उनसे जो सर्वथा निवृत्त हैं, वे धर्म-पक्ष में हैं। और जो लोग किसी सीमा तक उनसे निवृत्त भी है और शेष सीमा में निवृत्त नहीं भी है, वे मिश्र-पक्ष के अधिकारी हैं। मिश्र-पक्ष में अहिंसा और हिंसा दोनों हैं। अनावश्यक हिंसा का जितना सवरण किया है, वह जीवन का अहिंसा-पक्ष है और जीवन में आवश्यक हिंसा का जितना प्रयोग है, वह उसका हिंसा-पक्ष है। ये दोनो जीवन में मिश्रित हैं, क्योंकि इनका आधार एक ही जीवन है। पर ये दोनो मिश्रित नही है, क्योकि इनका स्वरूप सर्वथा भिन्न है।

जीवन में सारी प्रवृत्तियाँ अहिंसक ही होती है—ऐसा कौन कहेगा ? और सारी प्रवृत्तियाँ हिंसक ही होती है, ऐसा भी कौन कहेगा ? अहिंसक और हिंसक दोनों प्रकार की प्रवृत्तियाँ होती हैं, उन्हें एक कोटि की कौन कहेगा ? आचार्य भिक्षु ने जीवन-विभाजन की जो रेखा खींची, वह यही है। व्यापारी व्यापार करते समय आध्यात्मिक-भावना को भूल जाय, चाहे जितना क्रूर व्यवहार करे, धर्मस्थान में वह धार्मिक और कर्मस्थान में निर्दय हो, यह

१—विनोबा प्रवचन पृ० ४४०
२—सूत्रकृताङ्ग २-१

शामिल होते हैं और उसीका काम करते हैं दोनों ही लड़ाई के दोष के दोषी हैं।"[1]

गांधीजी ने युद्ध के सम्बन्ध में जो विचार व्यक्त किए, वे ही विचार आचार्य भिक्षु ने जीवन-युद्ध के बारे में व्यक्त किये। सामाजिक क्रान्ति की दृष्टि से जहाँ मनुष्यों को दूसरे मनुष्यों को मारने की खुली छूट होती है, वह युद्ध है। मोक्ष की दृष्टि से जहाँ एक जीव में दूसरे जीवों को मारने की भावना या वृत्ति होती है वह युद्ध है। अर्थात् जीवन ही युद्ध है। युद्ध में लगे जीवों की सहायता करनेवाला युद्ध के दोषों से मुक्त नहीं रह सकता—यह महात्मा गांधी की वाणी है। आचार्य भिक्षु की वाणी है—असंयममय जीवन-युद्ध में संलग्न जीवों की सहायता करनेवाला असंयममय जीवन-युद्ध के दोषों से मुक्त नहीं रह सकता। पहली बात स्थूल है और दूसरी सूक्ष्मतर। इसलिए इन पर सहसा विश्वास नहीं होता पर इनकी सचाई में सन्देह नहीं किया जा सकता।

आचार्य भिक्षु ने कहा—कोई व्यापारी घी और तम्बाकू दोनों का व्यापार करता था। एक दिन वह किसी कार्यवश दूसरे गांव गया। उसका पुत्र दुकान में बैठा। उसने देखा कि एक बर्तन में घी पड़ा है और एक में तम्बाकू। दोनों आधे-आधे थे। उसने सोचा—पिताजी कितने कम समझ हैं बिना मतलब दो पात्र रोक रखे हैं। उसने घी का पात्र उठाया और तम्बाकू में उंडेल दिया। उन्हें मिलाकर राब सी बना दी। ग्राहक आया तम्बाकू लेने। उसने वह राब दी। ग्राहक बिना लिए लौट गया। दूसरा ग्राहक आया घी लेने। वही राब उसके सामने आई। वह भी खाली लौट गया। जितने भी ग्राहक आए, वे सारे के सारे रीते हाथ लौट गए। यह पात्र खाली न हो तब तक दूसरा पात्र निकालने की पिताजी मनाही कर गए थे इसी समूचे दिन इस समस्या का सामना करना पड़ा।

उस व्यक्ति को भी इसी प्रकार की कठिनाई का सामना करना पड़ता है जो आध्यात्मिक और लौकिक कार्यों का मिश्रण करता है।[2]

आचार्य भिक्षु के अभिमत में "मिश्रण" अनुचित है। इसका विरोधी विचार समाज-वैदियों का है। उनके अभिमत में सामाजिक नैतिक और आध्यात्मिक पहलुओं को अलग-अलग मानना अनुचित है। इन दिनों इन लोगों में जीवन के टुकड़े करने की आदत पड़ गई है। सामाजिक पहलू अलग नैतिक पहलू

१—हिन्दी नवजीवन। २ सितम्बर १९२८

२—व्रतावत। ४ १

जिम घी ने तमाखू विगड़ै तिण काढण विगड़ न वाढै रे।
ज्यूं मैं संसार में धर्म ने दोनूं भेला विगाड़ै रे॥

उनकी वाणी है—एक लौकिक दया है। उसके अनेक प्रकर हैं।[1] एक कुआ जल से भरा है, कोई उसमें गिर रहा था, उसे बचा लिया। कही लाय—आग लगी, कोई उसमे जल रहा था, उसे बचा लिया। यह दया है, उपकार है, पर है सासारिक।

एक व्यक्ति पाप का आचरण कर रहा हो, उसे कोई समझाए, उसका हृदय बदल दे, वह जन्म-मरण के कुएँ मे गिरने से बचाता है। यह दया है, उपकार है, पर है आध्यात्मिक।[2]

सामाजिक प्राणी-समाज में रहता है। समाजरूपी धमनियाँ उसमें रक्त का सचार करती है, इसलिए वह सासारिक उपकार करता है।

आत्मवादी का सर्वोपरि ध्येय मोक्ष होता है। उसकी साधना करना व्यक्ति का सहज धर्म है। इसलिए वह आध्यात्मिक उपकार करता है।

जो मिथ्या दृष्टि होता है, वह इन दोनों को एक मानता है और सम्यक्‌दृष्टि इन्हें भिन्न-भिन्न मानता है।

आम और धतूरे के फल सरीखे नहीं होते। किसी के बाग में ये दोनों प्रकार के वृक्ष हो, वह आम की इच्छा से धतूरे को सीचे तो उसका परिणाम क्या होगा ? आम का वृक्ष सूखेगा और धतूरे का पौधा फलेगा। ठीक इसी प्रकार गृहस्थ के जीवन में व्रत रूपी आम का वृक्ष और अव्रत रूपी धतूरे का पौधा होता है। जो व्यक्ति व्रतो पर दृष्टि दे उसके अव्रत को सींचेगा, उसे आम की जगह

१—अणुकम्पा ८ दू०५

एक नाम दया लोकीक री, तिणरा भेद अनेक।
तिणमें भेषधारी भूला घणा, ते सुणजो आंण ववेक॥

२—वही ८ दू० १-३

दया दया सहको कहें, ते दया धर्म छैं ठीक।
दया ओलखनें पालसी, त्यांने मुगत नजीक॥
आ दया तो पहिली मत छे, साध श्रावक नों धर्म।
पाप रूके तिणसू आवता, नवा न लागैं कर्म॥
छ काय हणे हणावे नहीं, हणीयां भलो न जांणें ताय।
मन वचन काया करी, आ दया कही जिणराय॥

आशय उस विभाजन की रेखा का नहीं है।[1] उसका आशय है—व्यापार और दयाभाव एक नहीं हैं। दया भाव धर्म है और व्यापार सांसारिक कर्म। दोनों को एक मानने का अर्थ होता है धर्म और सांसारिक कर्म का मिश्रण। धर्म अर्थ काम और मोक्ष—ये चार वर्ग हैं। इनमें दो साध्य हैं और दो साधन। मोक्ष साध्य है, धर्म उसका साधन। काम साध्य है, अर्थ उसका साधन। आर्थिक विकास और काम का आसेवन जीवन का एक पहलू है। और दूसरा पहलू है—धार्मिक विकास और मुक्ति की उपलब्धि। ये चारों एक ही जीवन में होते हैं पर ये सब स्वरूप-दृष्टि से एक नहीं हैं। आचार्य भिक्षु ने जीवन के टुकड़े नहीं किए, उन्होंने जीवन की प्रवृत्तियों के मिश्रण से होने वाली क्षति से लोगों को सावधान किया। उनकी वाणी है—'सावद्य-दान' संसार-संवर्धन का हेतु है और 'निरवद्य दान' संसार-मुक्ति का हेतु है।[2] संसार और मोक्ष के मार्ग भिन्न हैं। वे समानान्तर रेखा की तरह एक साथ रहते हुए भी कहीं नहीं मिलते।

उनकी वाणी है—जो सांसारिक उपकार करता है उसके संसार बढ़ता है, और जो मोक्ष के अनुकूल उपकार करता है उसके मोक्ष निकट होता है।[3]

कोई गृहस्थ किसी गरीब को धन देकर सुखी बनाता है यह सांसारिक उपकार है। वीतराग उसकी प्रशंसा नहीं करते।[4]

१—विनोबा प्रवचन : पृ ४८ (मंगलवार, २८ मई १९५९)

व्यापारी इधर भगवान् की भक्ति करता है, पूजा-पाठ करता है और उधर व्यापार में झूठ चलाता है। इस तरह वह तीर्थ-यात्रा, ध्यान, जप-तप आदि करेगा, लेकिन सत्य व्यापार के खिलाफ है ऐसा अवश्य कहेगा। व्यापार अलग और सत्य प्रेम दया अलग। व्यापारी दुखियों के वास्ते दान देगा, लेकिन व्यापार में दया नहीं रखेगा। यह नहीं सोचेगा कि व्यापार में भी दया चाही है। इस गलत ढंग से व्यापार करते हैं तो समाज को दुःख पहुँचता है। इस तरह हम ने व्यवहार को नीति से अलग रखा और नीति को अध्यात्म से अलग रखा।

२—व्रताव्रत १।१

ते सावद्य धर्म संसार नो कारण तिण में जिनवर री नहीं भेलो रे।
संसार में मुगत रा मारग न्यारा ते कदे न आवें भेलो रे॥

३—अनुकम्पा ११।१

संसार तणों उपगार करें छै, तिणरे निश्चेंइ संसार वधतो जाणों।
मोक्ष तणो उपगार करे छै तिणरे निश्चेंइ नेड़ी दीसें निरवाणो॥

४—वही ११।४-५

कोइ दुखरी जीव नें धनादि कर दे, मन आस री परिवाली देइ भर पूर।
वले विविध प्रकारें साता उपजावें उणरो दालद्र उपगार कर दें दूर॥
ए धन रा दाता जीव इविरती रपारी साता पूगी नें साता उपजावें॥
रपारी करें चौपायन विविध प्रकारें तिणनें तीर्थंकर देव तो नहीं सरावे॥

पाकिस्तानियों के खयाल भारतीयों की तरफ से बिगड़े हुए है, किन्तु रूस के विरुद्ध भी उनके ऐसे ही भाव हैं ।

सीनेटर चर्च हम पाकिस्तान को रूसी आक्रमण के विरुद्ध सहायता दे रहे हैं, किन्तु पाकिस्तानी भावना है कि खतरा मुख्यत हिन्दुस्तान की ओर से है । मैं बहुत गम्भीरता से पूछता हूँ कि क्या एक मित्र देश को, दूसरे के विरुद्ध शस्त्र-सज्जित करने में अमरीकी रुपये खर्च करना उचित है ?[१]

यह सवाद आचार्य भिक्षु के उस उदाहरण की याद दिलाता है, जिसका प्रयोग उन्होंने, असयमपूर्ण सहयोग की स्थिति को समझाने के लिए किया था।

एक राजा ने दस चोरों को मारने का आदेश दिया। एक दयालु सेठ ने राजा से निवेदन किया कि आप चोरों को प्राण-दान दें तो मैं प्रत्येक चोर के लिए पाच सौ-पाच सौ रुपये दे दूँ । राजा ने कहा—ये चोर बहुत दुष्ट है, छोड़ने योग्य नही है । सेठ ने कहा - सबको नही तो कुछेक को प्राणदान दें । सेठ का आग्रह देख राजा ने पाच सौ रुपये ले एक चोर को छोड़ा । नगर के लोग सेठ की प्रशसा करने लगे । उसके परोपकार को बखानने लगे । चोर भी बहुत प्रसन्न हुआ । चोर अपने गाँव गया । नौ चोरो के घरवालो को सारे समाचार सुनाए । वे बहुत कुपित हुए । वे उस चोर को साथ ले नगर में आए । दरवाजे पर एक चिट्ठी चिपका दी । उसमें निन्यानवे नागरिको को मारकर नौ का बदला लेने की बात लिखी हुई थी और चोर को बचाने वाले साहूकार को छूट दी गई थी । अब नगर में चोरों का आतक फैला । हत्याओ पर हत्याएँ होने लगीं । किसी का बेटा मारा गया, किसी का बाप । किसी की मा और किसी की पत्नी । नगर में कोलाहल मचा । लोग उस साहूकार की निन्दा करने लगे, उसे कोसने लगे—"सेठ के पास धन अधिक था तो उसे कुएँ में क्यों नही डाल दिया ? चोर को सहायता दे, हमारे प्रियजनों की हत्याएँ क्यों करवाई ?" उस साहूकार की दशा दयनीय हो गई । उसे अपने बचाव के लिये नगर छोड़ दूसरी जगह जाना पड़ा ।[२]

सेठ ने चोर को प्राणदान दिया और अमरीका पाकिस्तान को सुरक्षा-साधन दे रहा है । अमरीका रूस और चीन के विरुद्ध पाकिस्तान को सैनिक सहायता दे रहा है । सेठ ने उन निन्यानवे व्यक्तियो के विरुद्ध, जो चोरों द्वारा मारे गए, उस चोर की सहायता की । असयमी प्राणी कभी भी किसी भी प्राणी को मार सकता है, उसे सहायता देना सब जीवो के विरुद्ध है । इसी

१—हिन्दुस्तान २३ जून १९५९

२—भिक्खु-दृष्टान्त १४०, पृष्ठ ५८

धतूरे का फल मिलेगा ।[1]

अमरीकी वायु सेना के चीफ ऑफ स्टाफ जनरल थामस व्हाइट सीनेट वैदेशिक सम्बन्ध समिति की एक बैठक में ६ मई १९५९ को कोई गवाही दे रहे थे उसके कुछ प्रसंग इस प्रकार हैं

सीनेटर मोर मैं पाकिस्तान को इतनी ज्यादा बड़ी रकम सैनिक सहायता के रूप में देने का समर्थन करना कठिन पाता हूँ ।

श्री मैक एल राय यह रक्षा-व्यवस्था निःसन्देह भारत के विरुद्ध नहीं बल्कि उसे रूस और चीन के विरुद्ध की गई है।

सीनेटर मोर अच्छा आपका यह उद्देश्य हो सकता है, किन्तु हमारा जो अफसर इस कार्यक्रम का इंचार्ज है, वह कहता है कि पाकिस्तानी सैनिक अस्त्रशस्त्र-सहायता भारत के विरुद्ध चाहते हैं।

श्री मैक एल राय हम उनसे सहमत नहीं।

सीनेटर किन्तु फिर भी आप उन्हें यह सहायता देते हैं और इसका उपयोग तो वे ही करेंगे आप नहीं । दूसरे शब्दों में हम उन्हें सहायता एक उद्देश्य से देते हैं और वे उसे लेते हैं दूसरे उद्देश्य से ।

जनरल व्हाइट मैं नहीं समझता कि ऐसा कहना न्याय-संगत है। निःसन्देह

१—अनुकम्पा : ५.५-११

हिवें सुणजो धतूर दृष्टांत, श्रावक रतनां री खांत।
ज्यां कर ओळखो ए, कूड़ी मत ताणजो ए॥
केइ रूप बाग में होसी आंब धतूरा दोय।
फल नहीं सारिखा ए, करजो पारिखा ए॥
आंबा रा मिस सींचे धतूरो आय।
आसा मन अति घणी ए, आंब लेवा तणी ए॥
पिण आंब मरी कुमलाय धतूरो रह्यो डहिडाय।
आंब में ओरें जरें ए मेवा नीर भरें ए॥
इण दृष्टांत आंब श्रावक मन अंब समान।
इविरत आकड़ी रही ए, धतूरा सम कही ए॥
सेवारे इविरत पोष मतो पापमें जोग।
न भूल मर्म में न हिंसा धर्म में ए॥
इविरत रा संग कर्म मिलसी नहीं मिलसी धर्म।
तीनूं जग तारिखा ए, दे विरला पारिखा ए॥

पाकिस्तानियों के खयाल भारतीयो की तरफ से बिगडे हुए है, किन्तु रूस के विरुद्ध भी उनके ऐसे ही भाव है ।

सीनेटर चर्च हम पाकिस्तान को रूसी आक्रमण के विरुद्ध सहायता दे रहे है, किन्तु पाकिस्तानी भावना है कि खतरा मुख्यत हिन्दुस्तान की ओर से है । मैं बहुत गम्भीरता से पूछता हूँ कि क्या एक मित्र देश को, दूसरे के विरुद्ध शस्त्र-सज्जित करने में अमरीकी रुपये खर्च करना उचित है ?[1]

यह सवाद आचार्य भिक्षु के उस उदाहरण की याद दिलाता है, जिसका प्रयोग उन्होंने, असयमपूर्ण सहयोग की स्थिति को समझाने के लिए किया था ।

एक राजा ने दस चोरों को मारने का आदेश दिया । एक दयालु सेठ ने राजा से निवेदन किया कि आप चोरों को प्राण-दान दें तो मैं प्रत्येक चोर के लिए पाच सौ-पाच सौ रुपये दे दूँ । राजा ने कहा—ये चोर बहुत दुष्ट हैं, छोडने योग्य नही हैं । सेठ ने कहा - सबको नहीं तो कुछेक को प्राणदान दें । सेठ का आग्रह देख राजा ने पाच सौ रुपये ले एक चोर को छोडा । नगर के लोग सेठ की प्रशसा करने लगे । उसके परोपकार को बखानने लगे । चोर भी बहुत प्रसन्न हुआ । चोर अपने गाँव गया । नौ चोरो के घरवालों को सारे समाचार सुनाए । वे बहुत कुपित हुए । वे उस चोर को साथ ले नगर मे आए । दरवाजे पर एक चिट्ठी चिपका दी । उसमें निन्यानवे नागरिकों को मारकर नौ का बदला लेने की बात लिखी हुई थी और चोर को बचाने वाले साहूकार को छूट दी गई थी । अब नगर में चोरों का आतक फैला । हत्याओ पर हत्याएँ होने लगीं । किसी का बेटा मारा गया, किसी का बाप । किसी की मा और किसी की पत्नी । नगर में कोलाहल मचा । लोग उस साहूकार की निन्दा करने लगे, उसे कोसने लगे—"सेठ के पास धन अधिक था तो उसे कुएँ में क्यों नहीं डाल दिया ? चोर को सहायता दे, हमारे प्रियजनो की हत्याएँ क्यों करवाई ?" उस साहूकार की दशा दयनीय हो गई । उसे अपने बचाव के लिये नगर छोड दूसरी जगह जाना पडा ।[2]

सेठ ने चोर को प्राणदान दिया और अमरीका पाकिस्तान को सुरक्षा-साधन दे रहा है । अमरीका रूस और चीन के विरुद्ध पाकिस्तान को सैनिक सहायता दे रहा है । सेठ ने उन निन्यानवे व्यक्तियो के विरुद्ध, जो चोरों द्वारा मारे गए, उस चोर की सहायता की । असयमी प्राणी कभी भी किसी भी प्राणी को मार सकता है, उसे सहायता देना सब जीवो के विरुद्ध है । इसी

१—हिन्दुस्तान २३ जून १९५९

२—भिक्खु-दृष्टान्त १४०, पृष्ठ ५८

दृष्टि से आचार्य भिक्षु ने कहा—मैं असंयमी जीवों को सांसारिक सहयोग देने का समर्थन करने में अपने को असमर्थ पाता हूं। यहां तर्क हो सकता है कि सेठ ने निरपराध व्यक्तियों के विरुद्ध चोर की सहायता नहीं की केवल चोर को जीवित रखने के लिए प्रयत्न किया। इसी तर्क का अंश इस प्रचार में मिलता है कि अमरीका भारत के विरुद्ध पाकिस्तान को सहयोग नहीं दे रहा है। चोर निरपराध व्यक्तियों की हत्या कर सकता है पाकिस्तान उस सैनिक सहायता का प्रयोग भारत के विरुद्ध भी कर सकता है।

जिस प्रकार इन सहयोगों से हत्या और आक्रमण की कड़ी जुड़ी हुई है उसी प्रकार असंयमी को सहयोग देने के साथ भी सूक्ष्म हिंसा का मनोभाव जुड़ा हुआ है। इसलिए परिणाम की दृष्टि से चोर का सहयोग करने के कार्य को महत्त्व नहीं दिया जा सकता। जिस प्रकार राजनैतिक दूरदर्शिता की दृष्टि से सैनिक सहयोग का समर्थन नहीं किया जा सकता उसी प्रकार आत्मिक दृष्टि से असंयमी को दिए जानेवाले सांसारिक सहयोग को धार्मिक उचितता नहीं दी जा सकती।

तर्क की पद्धति एक होती है उसके क्षेत्र भले ही भिन्न हों। राजनीति के क्षेत्र में एक दूसरे देश के विरुद्ध शस्त्र-सज्जित करना यदि चिन्तनीय हो सकता है तो आत्मिक क्षेत्र म एक जीव को दूसरे जीवों के विरुद्ध शस्त्र-सज्जित करना क्या चिन्तनीय नहीं होता ? भगवान् ने कहा—असंयम शस्त्र है।[1] एक जीव दूसरे जीवों की हिंसा इसलिए करता है कि वह असंयमी है। संयमी अपने जीवन के लिए भी किसी जीव की हिंसा नहीं करता। वह माधुकरी वृत्ति के द्वारा सहज प्राप्त भिक्षा से ही अपना जीवन चलाता है। असंयमी को भिक्षा लेने का अधिकार नहीं। वह अपने को एक सीमा तक ही संयत कर सकता है।

यदि हम सैनिक सहयोग पर केवल सामरिक दृष्टि से विचार करते हैं तो उन अमरीकी अधिकारियों की दृष्टि में 'पाकिस्तान को जो सहयोग दिया जा रहा है' वह उचित है किन्तु उस पर नैतिक दृष्टि से विचार करने वाले और चर्च सीनेटर मोर्स की दृष्टि में वह उचित नहीं है। उसे उचित मानने के पीछे भी एक दृष्टिकोण है और अनुचित मानने के पीछे भी एक दृष्टिकोण। उचित मानने का दृष्टिकोण स्वार्थपूर्ण है और अनुचित मानने का दृष्टिकोण वस्तुस्थिति से सम्बन्धित है। आचार्य भिक्षु ने कहा—मैं असंयमी को सांसारिक सहयोग देने का समर्थन करने

१—स्थानांग : १ ।१।७४३

दस विधे सत्थे पं० तं०—

सत्थमग्गी विसं लोणं सिणेहो खारमंबिलं।

दुप्पउत्तो मणो वाया काया भावो य अविरती॥

में अपने को असमर्थ पाता हूँ। इसमें आध्यात्मिक तथ्यों का विश्लेषण है। केवल सामाजिक स्वार्थ की दृष्टि से सोचने वाले, सम्भव है, इस विशुद्ध आध्यात्मिक विचार से सहमत न भी हो सकें।

. २ : अहिंसा का ध्येय

कोई आदमी नीम, आम आदि वृक्षों को न काटने का व्रत लेता है, वृक्ष सुरक्षित रहते है, कोई आदमी तालाव, सर आदि न सुखाने का नियम करता है, तालाव जल से परिपूर्ण रहता है, कोई आदमी मिठाई न खाने का व्रत करता है, मिठाई वचती है, कोई आदमी दव—आग लगाने और गाव जलाने का त्याग करता है, गाव और जङ्गल की सुरक्षा होती है, कोई आदमी चोरी करने का त्याग करता है, दूसरो के धन की रक्षा होती है।

वृक्ष आदि सुरक्षित रहते हैं, वह अहिंसा का परिणाम है, उद्देश्य नहीं।[1]

जीव-रक्षा अहिंसा का परिणाम हो सकता है, होता ही है, ऐसी बात नही। पर उसका प्रयोजन नही है। नदी के जल से भूमि उपजाऊ हो सकती है। पर नदी इस उद्देश्य से वहती है, यह नही कहा जा सकता।

अहिंसा का उद्देश्य क्या है ? आत्म-शुद्धि या जीव-रक्षा ? इस प्रश्न पर सब एक मत नही हैं। कई विचारक अहिंसा के आचरण का उद्देश्य जीव-रक्षा बतलाते हैं और कई आत्मशुद्धि। ऐसा भी होता है कि जीव-रक्षा होती है और आत्मशुद्धि नही होती, सयम नही होता और ऐसा भी होता है कि आत्मशुद्धि होती है, सयम होता है, जीव-रक्षा नही होती। अहिंसा जीव-रक्षा के लिए हो तो आत्मशुद्धि या सयम की बात गौण हो जाती है। और यदि वह आत्मशुद्धि के लिए हो तो जीव-रक्षा की बात गौण हो जाती है। आचार्य भिक्षु ने कहा—अहिंसा में जीव-रक्षा की बात गौण है, मुख्य बात आत्म-शुद्धि की है। एक सयमी सावधानीपूर्वक चल रहा है। उसके पैर से

१—अणुकम्पा ५ १२-१५

नींव आवादिक विरख नो, किण ही कीधो हो वाढण रो नेम।
इविरत घटी तिण जीव नी, विरख रह्यो हो तिणरो धर्म केम॥
सर द्रह तलाव फोडण तणों, सूस लेइ हो मेट्या आवता कर्म।
सर द्रह तलाव भरया रहें, तिण मांहिं हो नहीं जिणजी रो धर्म॥
लाडू घेवर आदि पक्वान नें, खाणा छोड्या हो आतम आंणी तिण ठाय।
वैराग वध्यों तिण जीव रें, लाडू रह्यों हो तिणरो धर्म ना थाय॥
दव देवो गांम जलायवों, इत्यादिक हो सावद्य कार्य अनेक।
ए सर्व छोडावे समझाय नें, सगला री हो विध जाणों तूमें एक॥

कोई जीव मर गया तो भी वह हिंसा का भागी नहीं होता। उसके पाप कर्म का बन्धन नहीं होता।[1] एक संयमी असावधानीपूर्वक चल रहा है। उसके द्वारा किसी भी जीव का घात नहीं हुआ फिर भी वह हिंसक है उसके पाप कर्म का बन्धन होता है।[2]

जहाँ जीवों का घात हुआ वहाँ पाप का बन्धन नहीं हुआ और जहाँ जीवों का घात नहीं हुआ वहाँ पाप का बन्धन हुआ यह आश्चर्य की बात है। परन्तु भगवान् की वाणी का यही रहस्य है।[3]

संयमी मुनि नदी को पार करते हैं। उसमें जीव घात होता है। इस कार्य में हिंसा का दोष होता तो भगवान् उसकी अनुमति नहीं देते। जहाँ भगवान् की अनुमति है वहाँ हिंसा का दोष नहीं है। जहाँ आत्मा का प्रयोग प्रशस्त होता है हिंसा का दोष नहीं होता वहीं भगवान् की अनुमति होती है।

देह के रहते हुए जीव-घात से नहीं बचा जा सकता किन्तु अहिंसा की पूर्णता आ सकती है। वीतराग या सर्वज्ञ के द्वारा भी जीव घात हो जाता है। पर उनका संयम अपूर्ण नहीं होता उनकी अहिंसा अधूरी नहीं होती। अवीतराग-संयमी के भी पूर्ण अहिंसा की साधना होती है। हिंसा और अहिंसा का मूल स्रोत आत्मा की असत् और सत् प्रवृत्ति है। जीव-घात या जीव-रक्षा उसकी कसौटी नहीं है। यह व्यावहारिक दृष्टि है। जहाँ प्रवृत्ति असत् होती है और जीव-घात भी होता है वहाँ व्यवहार और निश्चय दोनों दृष्टियों से हिंसा होती है। जहाँ

१—जिन आज्ञारी चौपई : ३ १

इरज्या सुमत चालतां साधथी जदा जीव हणी हुवे घात।
ते जीव मूआ री पाप साध में लागे नहीं अंसमात रे॥

२—वही : ३ ११

जो ईर्या सुमत बिन साधु चालें जदा जीव मरें नहीं कोय।
तो पिण साध नें हिंसा लागय री लागी पाप तणो बन्ध होय रे॥

३—वही : ३ १२

जीव मूआ तिहां पाप न लागो न मूआ तिहां लागो पापो।
जिन आगम साभलो जिन आज्ञा जोयो जिन आज्ञा में पापो न व्यापो रे॥

४—वही : ३ १८२

साध नदी उतरे तो नहिं दोष हुवे तो जिन आज्ञा दे नाहि।
जिन आज्ञा देवो पाप नहीं छै, ए दोष देवो मत मांहि रे॥
नदी उतरे साधां ज्यान जीवों छै, किसी लेस्या किसा परिणाम।
जोग किसा अध्यवसाय किसा छै, यसम मूआं री करो पिछाण रे॥
ए पांचूं भला छै तो जिन आज्ञा छै, माठा में जिन आज्ञा न कोय।
ए पांचूं माठा सूं पाप लागे छै भला सूं पाप न होय रे॥

प्रवृत्ति सत् होती है और जीव-घात भी नही होता, वहाँ व्यवहार और निश्चय दोनो दृष्टियो से अहिंसा होती है। प्रवृत्ति सत् होती है और जीव-घात हो जाता है, वहाँ निश्चय-दृष्टि से अहिंसा और व्यवहार-दृष्टि से हिंसा होती है। प्रवृत्ति असत् होती है और जीव-घात नहीं होता, वहाँ निश्चय-दृष्टि से हिंसा और व्यवहार-दृष्टि से अहिंसा। जैसे व्यवहार-दृष्टि की अहिंसा से धर्म नही होता, वैसे ही व्यवहार-दृष्टि की हिसा से पाप नही होता। जैसे जीव-घात होने पर भी व्यावहारिक हिंसा बन्धनकारक नही होती, वैसे ही जीव-रक्षा होने पर भी व्यावहारिक अहिंसा मुक्ति कारक नही होती।

कई लोग इसीलिए सिंह आदि हिंस्र जीवो को मारने में धर्म मानते हैं कि एक को मारने से अनेको की रक्षा होती है। दूसरी बात, जो जीव-रक्षा को अहिंसा का उद्देश्य बतलाते है, उन्हें पग-पग पर रुकना पड़ता है। जीव-रक्षा के लिए जीवो को मारने का भी प्रसग आ जाता है। अहिंसा का ध्येय जीव-रक्षा हो तो साधन-शुद्धि का विचार सुरक्षित नही रहता। आत्म-शुद्धि का साधन शुद्ध ही होता है। जीव-रक्षा को अहिंसा का ध्येय माननेवालों की कठिनाई का आचार्य भिक्षु ने इन शब्दों में चित्र खींचा है—"कभी तो वे जीवों की रक्षा में पुण्य कहते हैं और कभी वे जीवो की घात में पुण्य कहते हैं, यह बड़ा विचित्र मत है।[1] चोर चोरी की वस्तु को लुक-छिप कर बेचता है, वह प्रकटरूप में नही बेच सकता। उसी प्रकार एक जीव की रक्षा के लिए दूसरे जीवों की घात करने में पुण्य मानते हैं, वे इस मत को प्रकट करते हुए सकुचाते हैं।[2] जो जीवों की रक्षा को अहिंसा का ध्येय मानते हैं, उन्हें बड़े जीवों की रक्षा के लिये छोटे जीवो की घात में पुण्य मानना ही पड़ता है और वे मानते भी है। इसीलिए आचार्य भिक्षु ने जीव-रक्षा को अहिंसा का ध्येय नही माना।

जर्मन विद्वान् अलबर्ट स्वीजर भी इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि भगवान् महावीर के अनुसार अहिंसा सयम की उपज है। सयम या आत्मिक पवित्रता से सम्बन्धित होने के कारण ही वह पवित्र है। अहिंसा का सिद्धान्त जहाँ करुणा या जीव-रक्षा से जुड़ जाता है, वहाँ अहिंसा लोक प्रिय बनती है, पर पवित्र नहीं रह सकती। आत्म-शुद्धि का मतलब है, असयम से बचना। असयम से बचने और अहिंसा

१—व्रताव्रत १७ ३८

कदे तो पुन कहें जीव खवायां, कदे कहें जीव बचाया पुन।
यां दोयां रों निरणो न कीयो विकलां, यू ही बकें गेंहला ज्यू हीयासुन॥

२—वही १७ ३९

चोर चोरी री वसत छानें छानें वेचें, चोडे धाडे तिण सू बेचणी नावें।
ज्यू जीव खवायां पुन कहें त्यांसू, चोटें लोकां में बतावणी नावें॥

भी एक दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता। जहां असंयम से बचाव है, वहाँ अहिंसा है और जहाँ अहिंसा है वहाँ असंयम से बचाव है। किन्तु जीव-रक्षा का अहिंसा के साथ ऐसा सम्बन्ध नहीं है। अहिंसा में जीव-रक्षा हो सकती है पर उसकी अनिवार्यता नहीं है। आचार्य भिक्षु ने इस दृष्टिकोण को तीन उदाहरणों द्वारा स्पष्ट किया।

१—एक सेठ की दुकान में साधु ठहरे हुए थे। करीब रात के १२ बज रहे थे। गहरा सन्नाटा था। निःस्तब्ध वातावरण में चारों ओर घूप शान्ति थी। चोर आए, सेठ की दुकान में घुसे। ताला तोड़ा। धन की थैलियाँ ले मुड़ने लगे। इतने में उनकी निःस्तब्धता भंग करने वाली आवाज आई—भाई! तुम कौन हो? उनको कुछ कहने या करने का मौका ही नहीं मिला कि तीन साधु सामने आ खड़े हो गए। चोरों ने देखा कि साधु हैं उनका भय मिट गया और उत्तर में बोले—महाराज! हम हैं। उन्हें यह विश्वास था कि साधुओं के द्वारा हमारा अनिष्ट होने का नहीं। इसलिए उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा—महाराज! हम चोर हैं। साधुओं ने कहा—भाई इतना बुरा काम करते हो यह ठीक नहीं।

साधु बैठ गए और चोर भी। अब दोनों का संवाद चला। साधुओं ने चोरी की बुराई बताई और चोरों ने अपनी परिस्थिति। समय बहुत बीत गया। दिन होने चला। आखिर चोरों पर उपदेश असर कर गया। उनके हृदय में परिवर्तन आया। उन्होंने चोरी को आत्म-पतन का कारण मान उसे छोड़ने का निश्चय कर लिया। चोरी न करने का नियम भी कर लिया। अब वे चोर नहीं रहे। इसलिए उन्हें भय भी नहीं रहा। कुछ उजाला हुआ लोग इधर उधर घूमने लगे। वह सेठ भी घूमता घूमता अपनी दुकान के पास हो निकला। टूटे ताले और खुले किवाड़ देख वह अवाक सा हो गया। तुरन्त ऊपर आया और देखा कि दुकान की एक बाजू में चोर बैठे साधुओं से बातचीत कर रहे हैं और उनके पास धन की थैलियाँ पड़ी हैं। सेठ की कुछ आशा बंधी। कुछ कहने जैसा हुआ इतने में चोर बोले—सेठ जी! यह आपका धन सुरक्षित है चिन्ता न करें। यदि आज ये साधु यहाँ न होते तो आप भी करीब-करीब साधु जैसे बन जाते। यह मुनि के उपदेश का प्रभाव है कि हम लोग सदा के लिए इस बुराई से बच गए और इसके साथ-साथ आपका यह धन भी बच गया। सेठ बड़ा प्रसन्न हुआ। अपना धन सम्भाल मुनि को धन्यवाद देता हुआ अपने घर चला गया। यह पहला चोर का दृष्टान्त है। इसमें दो बातें हुईं—एक तो साधुओं का उपदेश सुन चोरों ने चोरी छोड़ी इसमें चोरों की आत्मा चोरी के पाप से बची और दूसरी—उसके साथ सेठजी का धन भी बचा। अब सोचना यह है

कि अहिंसा क्या है ? चोरो की आत्मा चोरी के पाप से बची वह है या सेठ जी का धन बचा वह ?

२—कसाई बकरो को आगे किए जा रहे थे। उन्हे मार्ग मे साधु मिले। उनमें से प्रमुख साधु ने कसाइयो को सम्बोधन करते हुए कहा—भाई ! इन बकरों को भी मौत से प्यार नहीं, यह तुम जानते हो ? इनको भी कष्ट होता है, पीडा होती है, तुम्हें मालूम है ? खैर ! इसे जाने दो। इनको मारने से तुम्हारी आत्मा मलिन होगी, उसका परिणाम दूसरा कौन भोगेगा ? मुनि का उपदेश सुन कसाइयो का हृदय बदल गया। उन्होने उसी समय बकरो को मारने का त्याग कर दिया और आजीवन निरपराध त्रस जीवों की हिंसा का भी प्रत्याख्यान किया। कसाई अहिंसक—स्थूल हिंसा-त्यागी बन गये।

यह दूसरा, कसाइयों का दृष्टान्त है। इसमें भी साधु के उपदेश से दो बातें हुई—एक तो कसाई हिंसा से बचे और दूसरी—उनके साथ-साथ बकरे मौत से बचे। अब सोचना यह है कि अहिंसा क्या है ? कसाई हिंसा से बचे वह है या बकरे बचे वह ?

चोर चोरी के पाप से बचे और कसाई हिंसा से, यहाँ उनकी आत्म-शुद्धि हुई। इसलिए यह नि सन्देह अहिंसा है। चोरी और जीव-वध के त्याग से अहिंसा हुई, किन्तु इन दोनों के साथ-साथ दो कार्य और हुए। धन और बकरे बचे। यदि इन्हें भी अहिंसा से जोड दिया जाय तो तीसरे दृष्टान्त पर ध्यान देना होगा।

३—अर्द्ध रात्रि का समय था। बाजार के बीच एक दुकान में तीन साधु स्वाध्याय कर रहे थे। सयोगवश तीन व्यक्ति उस समय उधर से ही निकले। साधुओं ने उन्हें देखा और पूछा—भाई ! तुम कौन हो ? इस घोर वेला में कहाँ जा रहे हो ? यह प्रश्न उनके लिए एक भय था। वे मन ही मन सकुचाए और उन्होंने देखने का यत्न किया कि प्रश्नकर्त्ता कौन है ? देखा तब पता चला कि हमें इसका उत्तर साधुओं को देना है—सच कहें या झूठ ? आखिर सोचा—साधु सत्य मूर्ति हैं, इनके सामने झूठ बोलना ठीक नही। कहते सकोच होता है, न कहें यह भी ठीक नहीं, क्योंकि इससे इनकी अवज्ञा होती है। यह सोच वे बोले—महाराज ! क्या कहें ? आदत की लाचारी है। हम पापी जीव हैं, वेश्या के पास जा रहे हैं। साधु बोले—तुम बडे भले मानस दीखते हो, सच बोलते हो, फिर भी ऐसा अनार्य कर्म करते हो ? तुम्हें यह शोभा नहीं देता। विषय-सेवन से तुम्हारी वासना नहीं मिटेगी। घी की आहुति से आग बुझती नही। साधु का उपदेश हृदय तक पहुँचा और ऐसा पहुँचा कि उन्होंने तत्काल उस जघन्य वृत्ति का प्रत्याख्यान कर डाला। वह वेश्या कितनी देर तक उनकी बाट जोहती रही,

को एक दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता। जहां असंयम से बचाव है वहां अहिंसा है और जहां अहिंसा है वहां असंयम से बचाव है। किन्तु जीव-रक्षा का अहिंसा के साथ ऐसा सम्बन्ध नहीं है। अहिंसा में जीव-रक्षा हो सकती है पर उसकी अनिवार्यता नहीं है। आचार्य भिक्षु ने इस दृष्टिकोण को तीन उदाहरणों द्वारा स्पष्ट किया।

१—एक सेठ की दुकान में साधु ठहरे हुए थे। करीब रात के १२ बज रहे थे। गहरा सन्नाटा था। निस्तब्ध वातावरण में चारों ओर मूक शान्ति थी। चोर आए, सेठ की दुकान में घुसे। ताला तोड़ा। धन की थैलियाँ ले मुड़ने लगे। इतने में उनकी निस्तब्धता भंग करने वाली आवाज आई—भाई! तुम कौन हो? उनको कुछ कहने या करने का मौका ही नहीं मिला कि तीन साधु सामने आ खड़े हो गए। चोरों ने देखा कि साधु हैं उनका भय मिट गया और उत्तर में बोले—महाराज! हम हैं। उन्हें यह विश्वास था कि साधुओं के द्वारा हमारा अनिष्ट होने का नहीं। इसलिए उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा—महाराज! हम चोर हैं। साधुओं ने कहा—भाई इतना बुरा काम करते हो यह ठीक नहीं।

साधु बैठ गए और चोर भी। अब दोनों का संवाद चला। साधुओं ने चोरी की बुराई बताई और चोरों ने अपनी परिस्थिति। समय बहुत बीत गया। दिन होने चला। आखिर चोरों पर उपदेश असर कर गया। उनके हृदय में परिवर्तन आया। उन्होंने चोरी को आत्म-पतन का कारण मान उसे छोड़ने का निश्चय कर लिया। चोरी न करने का नियम भी कर लिया। अब वे चोर नहीं रहे। इसलिए उन्हें भय भी नहीं रहा। कुछ उजाला हुआ लोग इधर उधर घूमने लगे। वह सेठ भी घूमता घूमता अपनी दुकान के पास हो निकला। टूटे ताले और खुले किवाड़ देख वह अवाक् सा हो गया। तुरन्त ऊपर आया और देखा कि दुकान की एक बाजू में चोर बैठे साधुओं से बातचीत कर रहे हैं और उनके पास धन की थैलियाँ पड़ी हैं। सेठ को कुछ आशा बंधी। कुछ कहने जैसा हुआ इतने में चोर बोले—सेठ जी! यह आपका धन सुरक्षित है चिन्ता न करें। यदि आज ये साधु यहाँ न होते तो आप भी करीब-करीब साधु जैसे बन जाते। यह मुनि के उपदेश का प्रभाव है कि हम लोग सदा के लिए इस बुराई से बच गए और इसके साथ-साथ आपका यह धन भी बच गया। सेठ बड़ा प्रसन्न हुआ। अपना धन सम्भाल मुनि को धन्यवाद देता हुआ जाने को चला गया। यह पहला चोर का दृष्टान्त है। इसमें दो बातें हुईं—एक तो साधुओं के उपदेश सुन चोरों ने चोरी छोड़ी इसमें चोरों की आत्मा चोरी के पाप से बची और दूसरी—उसके साथ सेठजी का धन भी बचा। अब सोचना यह है

जीव-रक्षा को अहिंसा का ध्येय मानने वालो के सामने दूसरी कठिनाइयाँ भी हैं। बहुत सारे प्रसग ऐसे होते हैं जिनमें जीव-रक्षा का प्रश्न दूसरे जीवो के हितों का विरोधी होता है। आचार्य भिक्षु ने ऐसे सात प्रसग उपस्थित किए, वे इस प्रकार है—

१—तलाई मेंढक और मछलियों से भरी है। उसमें काई जमी हुई है। अनेक प्रकार के जीव-जन्तु उसमें तैर रहे है।

२—पुराने अनाज के ढेर पडे हैं। उनमें कीडे विचर रहे है। अनेक जीवो के अडे रखे हुए हैं।

३—जमीकन्द से गाडी भरी है। जमीकन्द में अनन्त जीव हैं। उन्हें मारने से कष्ट होता है।

४—कच्चे जल के घडे भरे है। जल की एक बूंद में असख्य जीव होते हैं। जहाँ जल होता है, वहाँ वनस्पति होती है। इस दृष्टि से उसमें अनन्त जीव हैं।

५—कूडे के ढेर में भीनी खात पडी है। उसमें अनेक जीव-जन्तु तिल-मिल कर रहें हैं। अपने किए हुए कर्मों से उन्हें ऐसा अधम जीवन मिला है।

६—किसी जगह बहुत चूहे हैं। वे इधर-उधर आ जा रहे हैं। थोडा-सा शब्द सुनते ही वे भाग जाते हैं।

७—गुड, चीनी आदि मीठी चीजो पर अनेक जीव मँडरा रहे हैं। मक्खियाँ भिनभिना रही हैं। वे आपस में एक दूसरे को मार डालते है। मक्खा-मक्खी को मार डालता है।

तलाई में भैंस आदि पशु जल पीने को आ रहे हैं।
अनाज का ढिग देख बकरियाँ आ रही हैं।
जमीकन्द की गाडी पर बैल ललचा रहे है।
जल का घडा देख गाय जल पीने आ रही है।
कूडे के जीवों को चुगने के लिए पक्षी आ रहे है।
चूहो पर बिल्ली झपट रही है।
मक्खा मक्खी को पकड रहा है।
भैंसों को हाकने से तलाई के जीवो की रक्षा होती है।
बकरियों को दूर करने से अनाज के जीवो की रक्षा होती है।
बैलो को हाक देने से जमीकन्द के जीव बचते हैं।

जीव-रक्षा को प्रधान मानने वाले इन कठिनाइयों का पार नहीं पा सकते, तब बडो के लिए छोटे और बहुतो के लिए थोडे जीवों की हिंसा को निर्दोष मान लेते हैं। किन्तु इस मान्यता से अहिंसा का सिद्धान्त टूट जाता है। महात्मा गाधी ने भी ऐसे प्रसग की चर्चा में बताया है—"एक भाई पूछे छे—नाना जन्तुओ एक बीजा नो आहार करता अनेक वार जोइए छीए। मारे त्या एक घरोली ने एवो शिकार करता रोज जोऊ छू, अने बिलाडी ने पक्षीओ नो। शु ए मारे जोया करवो ? अने अटकावता बीजानी हिंसा करवी ? आवी हिंसा अनेक यथाज करे छे, आमा आपणे शु करवु ? में आवी हिंसा नथी जोइ शु ? घणीए वार घरोली ने वादानो शिकार करती अने वादा ने बीजा जन्तुओंना शिकार करता में जोया छे। पण ऐ 'जीवो जीवस्य जीवनम्' नो प्राणी जगत नो कायदो अटकाववानु मने कदी कर्तव्य नथी जणायु। ईश्वरनी ए अगम्य गूच उकेलवानो हु दावो नथी करतो"

अहिंसक सब जीवो के प्रति सयम करता है, इसलिए वह सब जीवो की रक्षा करता है। सामाजिक प्राणी समाज की उपयोगिता को ध्यान में रखकर चलते हैं। वे अपने उपयोगी जीवों को बचाते है और अनुपयोगी जीवों की उपेक्षा करते हैं। उपयोगिता और अहिंसा का सिद्धान्त एक नही। गाधीजी ने जो उत्तर दिया[1] वह काका कालेलकर को नहीं जचा। तब किशोरलाल भाई ने इसके साथ अपनी व्याख्या और जोड दी, वह यह है—

"मन तटस्थ या उदासीन हो तो बचाने का प्रयत्न न किया जाय। जीव को बचाने की वृत्ति जाग्रत हो जाए, दया भाव उमड पडे तो उसे दबाने की अपेक्षा जीवों को बचाने का प्रयत्न करना अच्छा है।"[2]

यह करुणा के उभार की बात है। गाधीजी ने जो कहा वह प्रकृति के नियम और सामाजिक उपयोगिता की बात है। अहिंसा की बात इससे भिन्न है और सूक्ष्म है।

अहिंसावादी और उपयोगितावादी अपने रास्ते पर कई बार मिलेंगे किन्तु अन्त में ऐसा अवसर भी आएगा जब उन्हें अलग-अलग रास्ते पकडने होंगे और किसी-किसी दिशा में एक दूसरे का विरोध भी मानना होगा।

१—धर्मोदय पृ० ६३
बधा ज प्राणिओने बचाववानो आपणो धर्म नथी। गरोली जीवडांने खाय छे ओ शु आना पहेलां मे कोई काले जोयु नथी ? गरोली पोतानो खोराक शोधे छे अेमां अेटले के कुदरती व्यवस्थामां पडवानु में मारु कर्तव्य मान्युं नथी। जे जानवरोने आपणे स्वार्थ खातर के शोख खातर पालीए छीए तेमने बचाववानो धर्म आपणे माथे लीधो छे अेथी आगल आपणाथी जवाय नहीं।

२—धर्मोदय पृ० ६३

जीव-रक्षा को प्रधान मानने वाले इन कठिनाइयों का पार नहीं पा सकते, तब बड़ों के लिए छोटे और बहुतों के लिए थोड़े जीवों की हिंसा को निर्दोष मान लेते हैं। किन्तु इस मान्यता से अहिंसा का सिद्धान्त टूट जाता है। महात्मा गाधी ने भी ऐसे प्रसग की चर्चा में बताया है—"एक भाई पूछे छे—नाना जन्तुओ एक बीजा नो आहार करता अनेक वार जोइए छीए। मारे त्या एक घरोली ने एवो शिकार करता रोज जोऊ छू, अने बिलाडी ने पक्षीओ नो। शु ए मारे जोया करवो? अने अटकावता बीजानी हिंसा करवी? आवी हिंसा अनेक थयाज करे छे, आमा आपणे शु करवु? में आवी हिंसा नथी जोइ शु? घणीए वार घरोली ने वादानो शिकार करती अने वादा ने बीजा जन्तुओंना शिकार करता में जोया छे। पण ऐ 'जीवो जीवस्य जीवनम्' नो प्राणी जगत नो कायदो अटकाववानु मने कदी कर्तव्य नथी जणायु। ईश्वरनी ए अगम्य गूच उकेलवानो हु दावो नथी करतो"

अहिंसक सब जीवों के प्रति सयम करता है, इसलिए वह सब जीवों की रक्षा करता है। सामाजिक प्राणी समाज की उपयोगिता को ध्यान में रखकर चलते हैं। वे अपने उपयोगी जीवों को बचाते है और अनुपयोगी जीवों की उपेक्षा करते हैं। उपयोगिता और अहिंसा का सिद्धान्त एक नहीं। गाधीजी ने जो उत्तर दिया[1] वह काका कालेलकर को नहीं जचा। तब किशोरलाल भाई ने इसके साथ अपनी व्याख्या और जोड दी, वह यह है—

"मन तटस्थ या उदासीन हो तो बचाने का प्रयत्न न किया जाय। जीव को बचाने की वृत्ति जाग्रत हो जाए, दया भाव उमड पडे तो उसे दबाने की अपेक्षा जीवों को बचाने का प्रयत्न करना अच्छा है।"[2]

यह करुणा के उभार की बात है। गाधीजी ने जो कहा वह प्रकृति के नियम और सामाजिक उपयोगिता की बात है। अहिंसा की बात इससे भिन्न है और सूक्ष्म है।

अहिंसावादी और उपयोगितावादी अपने रास्ते पर कई बार मिलेंगे किन्तु अन्त में ऐसा अवसर भी आएगा जब उन्हें अलग-अलग रास्ते पकडने होंगे और किसी-किसी दिशा में एक दूसरे का विरोध भी मानना होगा।

१—धर्मोदय पृ० ६३
वधा ज प्राणिओने बचाववानो आपणो धर्म नथी। गरोली जीवडांने खाय छे ओ शु आना पहेलां मे कोई काले जोयु नथी? गरोली पोतानो खोराक शोधे छे ओमां ओटले के कुदरती व्यवस्थामां पडवानु में मारु कर्तव्य मान्यु नथी। जे जानवरोने आपणे स्वार्थ खातर के शोख खातर पालीए छीए तेमने बचाववानो धर्म आपणे माथे लीधो छे ओथी आगल आपणाथी जवाय नहीं।

२—धर्मोदय पृ० ६३

अध्याय : ६

संघ-व्यवस्था

१ मार्ग कब तक चलेगा ?

किसी व्यक्ति ने पूछा—'महाराज ! आपका मार्ग बहुत ही संकरा है यह कब तक चलेगा ?" आचार्य भिक्षु ने उत्तर में कहा—'उसका अनुगमन करनेवाले साधु साध्वी जबतक श्रद्धा और आचार में सुदृढ़ रहेंगे वस्त्र-पात्र आदि उपकरणों की मर्यादा उल्लंघन नहीं करेंगे और स्थानक बांध नहीं बैठेंगे तब तक यह मार्ग चलेगा।

अपने लिये स्थान बनाने वाले वस्त्र-पात्र आदि की मर्यादा का लोप करते हैं और एक ही स्थान में पड़े रहते हैं—इस प्रकार वे शिथिल हो जाते हैं। मर्यादा को बहुमान देकर चलने वाले शिथिल नहीं होते।'[1]

२ धर्म शासन

धर्म आराधना है। वह स्वतंत्र मन से होती है। मन की स्वतन्त्रता का अर्थ है—वह बाहरी बन्धन से मुक्त हो और अपनी सहज मर्यादा में बंधा हुआ हो। कानून बाहरी बन्धन है। धार्मिक नियम कानून नहीं हैं। वे मनवाये नहीं जाते। धर्म की आराधना करनेवाले उन्हें स्वयं अंगीकार करते हैं।

आचार्य भिक्षु ने तेरापन्थ-संघ को संगठित किया। उसकी सुव्यवस्था के लिये अनेक मर्यादाएँ निर्धारित कीं। जब उन्होंने विशेष मर्यादाएँ बनानी चाहीं तब सब साधु-साध्वियों को पूछा। उन्होंने भी यह इच्छा प्रकट की कि वे होनी चाहिएँ।

१—भिक्खु-दृष्टान्त । २ ७ पृ १२१

२—लिखित । १८३२

फलित की भाषा में कहा जा सकता है कि मर्यादाओं के निर्माण में सूझ आचार्य भिक्षु की थी और सहमति सबकी। मर्यादा किसी के द्वारा किसी पर थोपी नहीं गई, बल्कि सबने उसे स्वयं अपनाया।

आचार्य भिक्षु सूझ-बूझ के धनी थे। उन्होंने व्यवस्था के लिए अनेक बातें सुझाईं, इसलिए वे मर्यादा के कर्त्ता कहलाए। पर धर्म-शासन की दृष्टि से मर्यादा की सृष्टि उन सबसे हुई है जिन्होंने उसे अंगीकार किया। धर्म वैयक्तिक ही होता है, किन्तु जब उसकी सामूहिक आराधना की जाती है तब वह शासन का रूप ले लेता है।

• ३ • मर्यादा क्यों ?

शासन व्यवहार पर अवलम्बित होता है। साधना का स्रोत अकेले में अधिक स्वच्छ हो सकता है किन्तु अकेले चलने की क्षमता सब में नहीं होती। दूसरों का सहयोग लिए-दिए बिना अकेला रह कर आगे बढ़ना महान् पुरुषार्थ का काम है। जैन-परम्परा में एक कोटि एकल-विहारी साधुओं की होती है। उस कोटि के साधु शरीरबल, मनोबल, तपोबल और ज्ञानबल से विशिष्ट सामर्थ्यवान् होते हैं। दूसरी कोटि के साधु संघ-बद्ध होकर रहते हैं। जहाँ संघ है वहाँ बन्धन तो होगा ही। अकेले के लिए भी बन्धन न हो, ऐसा तो नहीं होता। उसका आत्मानुशासन परिपक्व होता है और वह अकेला होता है, इसलिए उसे व्यावहारिक बन्धनों की अपेक्षा नहीं होती।

सामुदायिक जीवन में रहनेवाले साधुओं में अधिकांश दृढ मनोबल वाले होते हैं, तो कुछ दुर्बल भी होते हैं। सबका आत्मानुशासन, विवेक और वैराग्य एक सरीखा नहीं होता। आत्मिक विकास में तारतम्य होता है, उसे किसी व्यवस्था के निर्माण से सम नहीं बनाया जा सकता। जीवन-यापन और व्यवहार के कौशल में जो तारतम्य होता है उसे मर्यादाओं द्वारा सम किया जा सकता है। एक गृहस्थ तम्बाकू सूँघता है और दूसरा नहीं सूँघता। दोनों साधु बनते हैं। तम्बाकू सूँघनेवाला साधु हो ही नहीं सकता—ऐसा नहीं है। फिर भी यह एक व्यसन है। व्यसन साधु के लिए अच्छा नहीं होता। उसे मिटाने के लिए मर्यादा का निर्माण किया जाता है। हमारे संघ में कोई भी साधु तम्बाकू सूँघनेवाला नहीं है। पहले कुछ थे। उनके इस व्यसन को मिटाने के लिए मर्यादा बनी कि विशेष प्रयोजन के बिना कोई भी साधु तम्बाकू न सूँघे और किसी विशेष प्रयोजन से सूँघे तो जितने दिन सूँघे उतने दिन दूध, दही, मिठाई आदि 'विगय' न खाए।[१] इस मर्यादा ने तम्बाकू सूँघने वालों और न सूँघने वालों का भेद मिटा दिया। आज कोई भी साधु तम्बाकू सूँघने वाला नहीं है।

१—मर्यादावलि

४ मर्यादा क्या ?

आचार्य संघ के लिये मर्यादाओं का निर्माण करते हैं। वे थोपी नहीं जातीं। थोपी हुई हों तो सम्भव है हिंसा हो जाए। बलपूर्वक कुछ भी मनवाना अहिंसा नहीं हो सकता। धर्म-शासन की मर्यादाओं को अहिंसा की भाषा में मार्ग-दर्शन ही कहना चाहिए। साधनाशील मुनि साधना के पथ में निर्विघ्न भाव से चलना चाहते हैं। निर्विघ्नता अपने आप नहीं आती। उसके लिए वे आचार्य का मार्ग दर्शन चाहते हैं। आचार्य उन्हें अमुक-अमुक प्रकार से आत्मनियन्त्रण के निर्देश देते हैं। वे ही मर्यादा बन जाती हैं।

५ मर्यादा का मूल्य

मर्यादा का मूल्य साधक के विवेक पर निर्भर होता है। साधक का मनोभाव साधना की ओर झुका हुआ होता है तब वह स्वयं नियन्त्रण चाहता है। मर्यादाएँ मूल्यवान् बन जाती हैं। साधक साधना से भटकता है तब मर्यादाओं का मूल्य घट जाता है। आत्मानुशासन की मर्यादा का अवमूल्यन होता देख अस्थिरचित्त साधकों के लिए कभी-कभी आचार्य को बाहरी नियन्त्रण भी करना पड़ता है। यह करना चाहिए या नहीं, यह अहिंसा की दृष्टि से विचारणीय है किन्तु संघीय जीवन में ऐसा हो ही जाता है। बाहरी नियंत्रण पर आधारित मर्यादाएँ संघ के लिये आवश्यक होती होंगी किन्तु साधना की दृष्टि से उनका कोई मूल्य नहीं है। साधना की दृष्टि से मूल्यवान् मर्यादाएँ वे ही हैं जो आत्मानुशासन से उपजी हों।

६ मर्यादा की पृष्ठभूमि

श्रद्धा के युग में प्रत्येक मर्यादा की सुरक्षा अपने आपमें होती है। तर्क के युग में वह सहज कार्यकर नहीं रहती। जिस स्थिति को जब बदलना चाहिए वह ठीक समय पर बदल जाए, तो परिणाम अच्छा आता है और उसे आगे सरकाने का यत्न होता है तो वह बदलती अवश्य है किन्तु प्रतिक्रिया के साथ। सफल मर्यादा वही है जिसे पालनेवालों की श्रद्धा प्राप्त हो। जिसके प्रति निभानेवालों का अधिकांश भाग अश्रद्धाशील हो, आलोचक हो, वह बहुत समय तक टिक नहीं सकती और टिक कर भी हित नहीं कर सकती। तात्त्विक दृष्टिकोण से न तो मर्यादाओं का पालन किया जा सकता है और न कराया जा सकता है। उनका पालन करने वाला श्रद्धावान् हो, हृदयवान् हो तभी उनका निर्वाह हो सकता है।

आचार्य भिक्षु ने अपने प्रिय शिष्य भारीमालजी से कहा—"यदि तुम में किसी ने खामी बताई तो प्रत्येक खामी के लिए तेला (त्रिदिवसीय उपवास) करना होगा।"

उन्होंने उसे स्वीकार करते हुए कहा—"गुरुदेव ! यदि कोई झूठमूठ ही खामी बता दे तो ?"

आचार्यवर ने कहा—"तेला तो करना ही है। खामी होने पर कोई उसे बताए, तो 'तेला' उसका प्रायश्चित हो जाएगा। खामी किये बिना भी कोई उसे बताए, तो मान लेना कि यह किये हुए कर्मों का परिणाम है।"

भारीमलजी ने आचार्य की वाणी को सहर्ष शिरोधार्य कर लिया।[1] तर्क से यह कभी शिरोधार्य नहीं किया जा सकता था।

एक आचार्य ने अपने शिष्य से कहा—"जाओ, साँप की लम्बाई को नाप आओ।" शिष्य गया, एक रस्सी से उसकी लम्बाई को नाप लाया। आचार्य जो चाहते थे, वह नहीं हुआ। आचार्य ने फिर कहा—"जाओ, साँप के दाँत गिन आओ।" शिष्य गया, उसके दाँत गिनने के लिए मुँह में हाथ डाला कि साँप ने उसे काट खाया। आचार्य ने कहा—"बस काम हो गया।" उसे कम्बल उढा सुला दिया। विष की गर्मी ने उसके शरीर में से सारे कीडों को बाहर फेंक दिया।

अधिकाश लोग जो अपने आपको कूटनीतिक मानते हैं, अहिंसा में विश्वास नही करते। जहाँ हिंसा है, बल प्रयोग है, राजसी वृत्तियाँ हैं, वहाँ हृदय नही होता, छलना होती है। छलना और श्रद्धा के मार्ग दो हैं। श्रद्धा निश्छल भाव में उपजती है। जहाँ नेता के तर्क के प्रति अनुगामी का तर्क आता है, वहाँ बडे-छोटे का भाव नहीं होता, वहाँ होता है—तर्क की चोट से तर्क का हनन।

आज का चतुर राजनयिक तर्क को कवच मानकर चलता है, पर यह भूल है। प्रत्यक्ष या सीधी बात के लिए तर्क आवश्यक नही होता। तर्क का क्षेत्र है, अस्पष्टता। स्पष्टता का अर्थ है, प्रत्यक्ष। प्रत्यक्ष का अर्थ है, तर्क का अविषय। तर्क की अपेक्षा प्रेम और विश्वास अधिक सफल होते है। जहाँ तर्क होता है, वहाँ जाने-अनजाने दिल सन्देह से भर जाता है। जहाँ प्रेम होता है, वहाँ सहज विश्वास बढता है।

अहिंसा और कोरी व्यवस्था के मार्ग दो है। अहिंसा के मार्ग में तर्क नहीं आता और कोरी व्यवस्था के मार्ग में प्रेम नहीं पनपता। तर्क की भाषा में दोनो को अपूर्ण कहा जा सकता है, पर प्रेम कभी अपूर्ण नहीं होता। प्रेम की अपूर्णता में ही तर्क का जन्म होता है। प्रेम की गहराई में सारे तर्क लीन हो जाते हैं।

यह विराट् प्रेम ही अहिंसा है, जिसकी गहराई सर्वभूत-साम्य की भावना से उत्पन्न होती है और आत्मौपम्य की सीमा में ही फिर विलीन हो जाती है।

१—भिक्षु जश रसायण ११ ६-१०

हमारे विश्वास व्यवहारस्पर्शी अधिक हैं इसलिए यह मार्ग हमें निर्विघ्न नहीं लगता। व्यवहार-कौशल ने हमारी विशुद्ध आन्तरिक प्रवृत्तियों को बुरी तरह दबोच रखा है। आवश्यकता यह है कि हम अपनी स्वत-स्फूर्त अन्तःकरण की प्रवृत्तियों को व्यवहार की संकीर्ण सीमा से बाहर जाने दें। मर्यादा के औचित्य का दर्शन हमें वहीं होगा।

आचार्य भारमलजी ने अपने उत्तराधिकार पत्र में दो नाम लिखे। मुनि खेतसीजी ने उनसे प्रार्थना की—गुरुदेव! इस पत्र में नाम एक ही होना चाहिए, दो नहीं। आपने कहा—खेतसी! खेतसी और रायचन्द मामा भानजे हैं। दो नाम हों तो क्या आपत्ति है? मुनिवर ने फिर अनुरोध किया कि नाम तो एक ही होना चाहिए, फिर आप चाहे जिसका। आचार्यवर ने खेतसी का नाम हटा दिया। उनका नाम लिखा गया तब उन्होंने गुरु का प्रसाद माना, हटा दिया तब भी गुरु का प्रसाद माना। यह प्रेम की पूर्णता है। यदि प्रेम अपूर्ण होता तो नाम हटने की स्थिति में बहुत बड़ा विवाद उठ खड़ा होता। प्रेम की पूर्णता में मर्यादा कुछ भी नहीं होता।

७ मर्यादा की अपेक्षा क्यों?

मर्यादा का भाग्य योग्य व्यवस्थापक के हाथों में ही सुरक्षित रहता है। अधिकारी व्यक्ति जब अपना या अपने आस-पास का हित देखने लग जाता है तब मर्यादा पालने वालों की दृष्टि में सन्देह भर जाता है। उसकी अनिवार्यता उनके लिए समाप्त हो जाती है। व्यवस्था की कमी व्यवस्थापक के प्रति अश्रद्धा लाती है। इसे इस प्रकार भी कहा जा सकता है कि व्यवस्थापक की कमी से व्यवस्था वीर्य-हीन बन जाती है। व्यवस्था की अप्रामाणिकता भी उसमें अश्रद्धा उत्पन्न करती है। व्यवस्था के प्रति विश्वास तभी स्थिर होता है जब वह कभी अधिक और कभी कम शासन प्रस्तुत न करे। व्यवस्था को प्राणवान् बनाए रखने के लिए उसे किसी भी व्यक्ति से अधिक मूल्य मिलना चाहिए।

आचार्य भिक्षु की व्यवस्था इसलिए प्राणवान् है कि वे अनुशासन में बहुत ही सजग थे। एक बार की घटना है, आचार्य भिक्षु ने मुनि वेणीरामजी को बुलाने के लिये शब्द किया। उत्तर नहीं मिला। दो तीन बार आवाज दे। पर भी उत्तर नहीं मिल रहा था। लगता है वेणीराम भय से [illegible] होगा— आचार्य भिक्षु ने गुमानजी [illegible] से कहा। [illegible] और [illegible] की दुकान में वेणीरामजी [illegible] ने [illegible] सुना दिया जो आचार्यवर ने कहा था। वे उसी क्षण आचार्यवर के पास आए और वन्दना की। आपने कहा—[illegible]! तू भी नहीं जानता है? वेणीरामजी ने

कहा—गुरुदेव ! मैंने सुना नहीं था। उनके नम्र व्यवहार ने आचार्यवर को प्रसन्न कर लिया, किन्तु इस घटना से सब साधुओं को अनुशासन की एक सजीव शिक्षा मिल गई।[1]

आचार्य भिक्षु अनुशासन मे कभी शिथिलता नही आने देते थे। सिंहजी गुजराती साधु थे। वे आचार्य भिक्षु के शिष्य बन गए। कुछ दिन वे अनुशासन में रहे, फिर मर्यादा की अवहेलना करने लगे। यह देख आचार्यवर ने उन्हें संघ से अलग कर दिया। वे दूसरे गाँव चले गए। पीछे से खेतसीजी स्वामी ने कहा—उन्हें प्रायश्चित दें, मैं वापस ले आता हूँ। आचार्यवर ने कहा—वह फिर लाने योग्य नही है। खेतसीजी ने आचार्यवर की बात पर विशेष ध्यान नहीं दिया। वे उन्हें लाने के लिये तैयार हुए। आचार्यवर ने अनुशासन की डोर को खींचते हुए कहा – खेतसी ! तूने उनके साथ आहार का सम्बन्ध जोड़ा, तो तेरे साथ हमें आहार का सम्बन्ध रखने का त्याग है। खेतसीजी के पैर जहाँ थे, वहीं रह गए। फिर सिंहजी की अयोग्यता और अनुशासनहीनता के अनेक प्रमाण सुनने को मिले।[2]

: ८ : अनुशासन की भूमिका

अनुशासन की पूर्णता के लिए अनुशासन करने वाला योग्य हो इतना ही पर्याप्त नहीं है, उसकी पूर्णता के लिए इसकी भी बड़ी अपेक्षा होती है कि उसे मानने वाले भी योग्य हों। दोनों की योग्यता से ही अनुशासन को समुचित महत्त्व मिल सकता है।

आचार्य भिक्षु शिष्यों के चुनाव को बहुत महत्त्व देते थे। वे हर किसी को दीक्षित बनाने के पक्ष में नहीं थे। अयोग्य-दीक्षा पर उन्होंने तीखे बाण फेंके। जो शिष्य-शिष्याओं के लोभी हैं, केवल सम्प्रदाय चलाने के लिए बुद्धि-विकल व्यक्तियों को मूँड-मूँड कर इकट्ठा करते हैं, उन्हें रुपयों से मोल लेते हैं, वे गुणहीन आचार्य हैं और उनकी शिष्य-मण्डली कोरी पेटू।[3]

१—भिक्खु-दृष्टान्त : १६३, पृष्ठ ६६

२—भिक्खु-दृष्टान्त १६६, पृष्ठ ६७

३—आचार की चौपई ३ ११-१३

चेला चेली करण रा लोभिया रे, एकंत मत बांधण सूं काम रे।
विकलां नें मूंड मूंड भेला करे रे, दिराए गृहस्थ ना रोकड़ दाम रे॥
पूजरी पदवी नाम धरावसी रे, में छां सासण नायक साम रे।
पिण आचारे ढीला सुध नहि पालसी रे, नहि कोइ आतम साधन काम रे॥
आचार्य नाम धरासी गुण विना रे, पेटभरा ज्यांरो परवार रे।
लपटी तो हूसी इन्द्री पोषवा रे, कपट कर ल्यासी सरस आहार रे॥

कुछ साधु गृहस्थ को इसकी प्रतिज्ञा दिलाते कि दीक्षा मेरे पास ही लेना और कहीं नहीं। यह ममत्व है। ऐसा करना साधु के लिए अनुचित है।[1]

विवेक विकल व्यक्ति को साधु का स्वांग पहनाने वाले और अयोग्य को दीक्षित करने वाले भगवान् की आज्ञा का उल्लंघन करते हैं।[2]

अयोग्य शिष्यों की बाढ़ आ रही थी उसका कारण था आचार्य-पद की लालसा। आचार्य भिक्षु ने रोग की जड़ को पकड़ लिया। उन्होंने उस पर दोनों ओर से नियंत्रण किया। उन्होंने एक मर्यादा लिखी कि मेरे बाद आचार्य भारमलजी होंगे। तेरापंथ में आचार्य एक ही होगा दो नहीं हो सकेंगे।[3] दूसरी ओर आपने उसी मर्यादा-पत्र में एक धारा यह लिखी कि जो शिष्य बनाए जाएँ वे सब भारमलजी के नाम से बनाए जाएं।[4] इसके द्वारा शिष्य बनाने पर भी नियन्त्रण हो गया। जो चाहे वह आचार्य भी नहीं हो सकता और जो चाहे वह शिष्य भी नहीं बना सकता। आचार्य हुए बिना शिष्य कैसे बनाए और शिष्यों के बिना आचार्य कैसे बने? यह समस्या पाश रचकर आचार्यवर अयोग्य दीक्षा की बाढ़ को रोकने में सफल हुए।

आचार्य भिक्षु ने एक अपवाद रखा था—भारमलजी प्रसन्न होकर किसी साधु को शिष्य बनाने की स्वीकृति दें तो वह बना सकता है। इस विधि का प्रयोग नहीं हुआ।

कुछ वर्षों तक साधु किसी व्यक्ति को दीक्षित कर आचार्य को सौंप देते थे पर अब वह परम्परा भी नहीं है। वर्तमान में जितनी भी दीक्षाएँ होती हैं उनमें निन्यानवे प्रतिशत आचार्य के हाथों से ही सम्पन्न होती हैं। एक प्रतिशत

1—आचार की चौपई १ १८ १९

दिख्या दे तो भो आगे कीजे और कर्म दे पाड़ जी।
उपगुरु एहवो सूस कराये ए चोड़ें ऊंधी चाल जी।
ए सगला की ममता लागे गृहस्थ सूं मेलक चाल जी॥
मर्यादा रे लोपे उंबेरे बंड चली छिन्नचाल जी॥

2—वही १ २३ २४

बालक विकल नें सांग पहराए, भेलो करे आहार जी।
सामग्री में जाय वंदाय फिर फिर करे सुवार जी॥
अजोग नें दिख्या दीधी ते भगवंत री आग्या बार जी।
मर्यादा री टेक मूल न मान्यो, ते चिहुं गत्या बेकार जी॥

3—लिखित : १८३२

4—वही : १८३२

कहीं अन्यत्र आचार्य की स्वीकृति से दूसरे साधु-साध्वियों द्वारा सम्पन्न होती है। आचार्य को दीक्षा का सर्वाधिकार देकर भी उन्हें एक धारा के द्वारा फिर सचेत किया है—"आचार्य भी उसे ही शिष्य बनाएँ जिसे और-और बुद्धिमान् साधु भी दीक्षा के योग्य समझें। दूसरे साधुओं को जिसकी प्रतीति हो उसीको दीक्षा दें, जिसकी प्रतीति न हो उसे दीक्षा न दें। दीक्षा देने के बाद भी कोई अयोग्य हो तो बुद्धिमान् साधुओं की सहमति से उसे संघ से पृथक् कर दें।[1]

दीक्षा लेने का मुख्य हेतु वैराग्य है, किन्तु कोरे वैराग्य से संयम की साधना नहीं हो सकती। विरक्त आदमी इन्द्रिय और मन का संयम कर सकता है किन्तु संयम की मर्यादा इससे भी आगे है। भगवान् ने कहा है—जो जीवों को नहीं जानता, अजीवों को नहीं जानता वह संयम को कैसे जानेगा? जो जीवों को जानता है, अजीवों को जानता है, वही संयम को जान सकेगा।[2] जीव है, अजीव है, बन्धन है, उसके हेतु हैं, मुक्ति है, उसके हेतु हैं। साधक के लिए ये मौलिक तत्त्व हैं। इन्हीं के विस्तार को नव-तत्त्व कहा जाता है।

आचार्य भिक्षु ने लिखा कि दीक्षार्थी को नव-तत्त्वों की पूरी जानकारी कराने के बाद दीक्षा दी जाए।[3] आचार्य भिक्षु अपने जीवन में सदा सतर्क रहे। उन्होंने अन्तिम शिक्षा में भी यही कहा—"जिस-तिस को मत मूँड लेना, दीक्षा देने में पूरी सावधानी रखना।[4]" इस प्रकार अयोग्य दीक्षा पर कड़ा प्रतिबन्ध लगा उन्होंने अनुशासन की भूमिका को सुदृढ़ बना दिया।

: ६ : अनुशासन के दो पक्ष

अनुशासन आत्मशुद्धि के लिए भी आवश्यक होता है और सामुदायिक व्यवस्था के लिए भी। इनमें एक नैश्चयिक पक्ष है और दूसरा व्यावहारिक। मुनि जीवन भर के लिए पाँच महाव्रतों को अंगीकार करता है, यह नैश्चयिक अनुशासन का पक्ष है।

१—लिखित १८३२

२—दशवैकालिक ४।१२-१३

जो जीवे वि न याणाइ, अजीवे वि न याणइ।
जीवाजीवे अयाणंतो, कहं सो नाहीइ संजमं॥
जो जीवे वि वियाणाइ अजीवे वि वियाणइ।
जीवाजीवे वियाणंतो, सो हु नाहीइ संजमं॥

३—लिखित १८३२

४—वही १८६९

महाव्रतों को एक-एक कर स्वीकार नहीं किया जा सकता। इनका स्वीकार एक ही साथ होता है। आचार्य भिक्षु के शब्दों में महाव्रत उस धागे में पिरोई हुई माला है जिसमें मनकों के बीच-बीच में गाँठ नहीं होती। वे एक ही सूत्र धागे में एक साथ रहते हैं और धागा टूटता है तो सारे के सारे मनके बिखर जाते हैं। अणुव्रत उस धागे में पिरोई हुई माला है जिसमें प्रत्येक मनके के बीच गाँठ होती है। वह एक गाँठ के बाद एक होता है और धागा टूटता है तो एक ही मनका बिखरता है सारे के सारे नहीं बिखरते।

महाव्रतों की युगपत् प्राप्ति को आचार्यवर ने संवादात्मक शैली से समझाया है—

गुरु—हिंसा असत्य चोरी अब्रह्मचर्य और परिग्रह ये पाँच महान् दोष हैं। इनके द्वारा जीव दुःख की परम्परा को बनाए रखता है।

शिष्य—तो भगवन्! सुख की प्राप्ति के उपाय क्या हैं?

गुरु—अहिंसा सत्य अचौर्य ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—ये पाँच महान् गुण हैं। इनके द्वारा जीव असीम सुख को प्राप्त होता है।

शिष्य—गुरुदेव! मैं अहिंसा महाव्रत को अंगीकार करता हूँ। मैं आज से किसी भी प्रकार की हिंसा नहीं करूँगा। किन्तु गुरुदेव! वाणी पर मेरा इतना नियन्त्रण नहीं कि मैं असत्य बोलना छोड़ सकूँ।

गुरु—शिष्य! इस प्रकार महाव्रत अंगीकार नहीं किये जा सकते। असत्य बोलने का त्याग किये बिना तुम अहिंसा-महाव्रती कैसे बन पाओगे? असत्य बोलने वाला हिंसा में धर्म बताने में क्यों संकोच करेगा?

असत्यभाषी इस सिद्धान्त का भी प्रचार कर सकता है कि हिंसा में भी धर्म है तो उसे कौन रोकेगा? असत्य और हिंसा दोनों साथ-साथ रहते हैं। जहाँ हिंसा है वहाँ असत्य वचन नहीं भी हो सकता किन्तु जहाँ असत्य वचन है वहाँ हिंसा अवश्य है। इसलिए असत्यभाषी रहकर तुम अहिंसा के महाव्रती नहीं बन सकते।

शिष्य—गुरुदेव! मैं हिंसा और असत्य दोनों का त्याग करूँगा परन्तु मैं चोरी नहीं छोड़ सकता। धन के प्रति मेरी अत्यन्त आसक्ति है।

गुरु—तू हिंसा नहीं करेगा असत्य भी नहीं बोलेगा तो चोरी कैसे कर सकेगा? तू चोरी करके सत्य बोलेगा तो चोरी का धन तेरे पास कैसे रहेगा? लोग तुझे चोरी करने भी क्यों देंगे?

दूसरों का धन चुराने से उन्हें कष्ट होता है। किसी को कष्ट देना हिंसा है। इस प्रकार तेरा पहला महाव्रत टूट जाएगा और तू यह कहे कि धन चुराने में हिंसा नहीं है तो तेरा दूसरा महाव्रत भी टूट जाएगा।

शिष्य—अच्छा गुरुदेव । मैं इन तीनों महाव्रतों को अंगीकार कर लूँगा, पर मैं ब्रह्मचारी नहीं बन सकता । भोग मुझे बहुत प्रिय हैं ।

गुरु—अब्रह्मचारी पहले तीनों महाव्रतों को तोड़ देता है । अब्रह्मचर्य सभी गुणों को इस प्रकार जला डालता है जिस प्रकार धुनी हुई रुई को आग । अब्रह्मचर्य के सेवन से जीवों की हिंसा होती है—पहला महाव्रत टूट जाता है । हिंसा नहीं होती—ऐसा कहने पर दूसरा महाव्रत टूट जाता है । अब्रह्मचर्य का सेवन भगवान् की आज्ञा के विरुद्ध है, इसलिये तीसरा महाव्रत टूट जाता है । इस प्रकार अब्रह्मचर्य सेवन से पहले तीनों महाव्रत टूट जाते हैं ।

शिष्य—गुरुदेव । मैं अपनी आत्मा को वश में करूँगा । आप मुझे ये चारों महाव्रत अंगीकार करा दीजिए । पर पाँचवें महाव्रत को अंगीकार करने में मैं अपने को असमर्थ पाता हूँ । ममत्व को त्यागना मेरे लिए बहुत कठिन है । परिग्रह के बिना मेरा काम नहीं चल सकता ।

गुरु—यदि परिग्रह नहीं छोड़ा, तो तूने छोड़ा ही क्या ? हिंसा, असत्य, चोरी और अब्रह्मचर्य—इन सब रोगों की जड़ परिग्रह ही तो है । परिग्रह की छूट रख कर तू अन्य महाव्रतों का पालन कैसे करेगा ? मनुष्य परिग्रह के लिए हिंसा करता है, असत्य बोलता है, चोरी करता है और भोग स्वयं परिग्रह है । इसलिये परिग्रह रखने वाला शेष महाव्रतों को अंगीकार नहीं कर सकता ।

शिष्य—गुरुदेव । केवल परिग्रह के कारण यदि मेरे चारों महाव्रत टूटते हैं तो मैं उसे भी त्याग दूँगा । मैं हिंसा आदि पाँचों दोषों का मनसा, वाचा, कर्मणा सेवन नहीं करूँगा । अब तो मैं महाव्रती हूँ न ?

गुरु—नहीं तो ।

शिष्य—यह कैसे ?

गुरु—तुम केवल हिंसा करने का त्याग करते हो, कराने का नहीं । इसका अर्थ हुआ कि तुम हिंसा करा सकते हो । तब भला महाव्रती कैसे ? हिंसा करने वाला हिंसक है तो क्या करानेवाला हिंसक नहीं है ?

घर में तो पूरा अनाज ही खाने को नहीं मिलता और साधु बन कर बहुत सारे लोग राजसी ठाठ भोगने लग जाते हैं । यह महाव्रत की आराधना का मार्ग नहीं है ।

शिष्य—गुरुदेव । मैं हिंसा कराने का भी त्याग करता हूँ, फिर तो कुछ शेष नहीं होगा ?

गुरु—हिंसा के अनुमोदन का त्याग किये बिना महाव्रत कहाँ है ? हिंसा

करने कराने वाला हिंसक है तो उसका अनुमोदन करने वाला अहिंसक कैसे होगा ?

शिष्य—समझ गया हूँ गुरुदेव ! हिंसा आदि दोषों का सेवन करने कराने और उनका अनुमोदन करने का मनसा वाचा कर्मणा त्याग करने वाला ही महाव्रती हो सकता है। भगवन् ! मैं ऐसा ही होना चाहता हूँ।

गुरु—जैसी तुम्हारी इच्छा।[1]

शिष्य—इनके टूटने का क्रम क्या है ? यदि कदाचित् कोई महाव्रत टूट जाय तो शेष तो बच रहेंगे ?

गुरु—यह कैसे हो सकता है ?

शिष्य—तो फिर यह कैसे हो सकता है कि एक के टूटने पर सभी टूट जायें।

गुरु—एक भिखारी को पाँच रोटी जितना आटा मिला। वह रोटी बनाने बैठा। उसने एक रोटी बना चूल्हे के पीछे रख दी। दूसरी रोटी तवे पर सिक रही थी तीसरी अंगारों पर, चौथी रोटी का आटा उसके हाथ में था और पाँचवीं रोटी का आटा कठौती में पड़ा था।

एक कुत्ता आया। कठौती से आटे को उठा कर ले गया। उसके पीछे-पीछे वह भिखारी दौड़ा। वह ठोकर खाकर गिर पड़ा। उसके हाथ में जो एक रोटी का आटा था वह धूल से भर गया। उसने वापस आकर देखा कि चूल्हे के पीछे रखी हुई रोटी बिल्ली ले जा चुकी है। तवे पर रखी हुई रोटी तवे पर और अंगारों पर रखी हुई अंगारों पर जल गई। एक रोटी का आटा ही नहीं गया पाँचों रोटियाँ चली गईं। गुरु ने कहा—यह अकस्मात् हो सकता है पर यह सुनिश्चित है कि एक महाव्रत के टूटने पर सभी महाव्रत टूट जाते हैं।[2]

महाव्रत मूलगुण हैं। इनकी सुरक्षा के लिए ही उत्तर-गुणों की सृष्टि होती है। मर्यादाएँ उत्तर-गुण हैं। मूल पूँजी ही न रहे तो उसकी सुरक्षा का प्रश्न ही मूल्यहीन हो जाता है।

अनुशासन और विनय का मूल्य महाव्रती जीवन में ही बढ़ता है। इसीलिये आचार्य भिक्षु ने एकाधिक बार कहा है कि मैंने जो मर्यादाएँ की हैं उनका मूल इसीलिए है कि वे महाव्रतों की सुरक्षा के उपाय हैं।

१—आचार की चौपई : २४

२—भिक्षु-दृष्टान्त : ७१ पृ ४

• १० अनुशासन का उद्देश्य

तीन प्रकार की नौकाएँ हैं—

(१) एक काठ की, जिसमे छेद नहीं होता।

(२) एक काठ की, किन्तु फूटी हुई।

(३) एक पत्थर की।

पहली नौका के समान साधु होते हैं, जो स्वय तरते हैं और दूसरो को भी तारते है।

दूसरी कोटि की नौका के समान साधु का भेष धारण करने वाले है, जो स्वय डूबते है और दूसरों को डुबोते है।

तीसरी कोटि के समान पाखडी है, जो प्रत्यक्ष विरुद्ध है, इसलिए उनके जाल में लोग सहसा नहीं फँसते।

भेषधारी प्रत्यक्ष विरुद्ध नहीं होते। इसलिए उनके जाल मे लोग सहसा फँस जाते हैं।[१]

आचार्य भिक्षु ने अनुभव किया कि अनुशासन का भग उच्छृङ्खल वृत्तियो से होता है। अकुश के विना जैसे हाथी चलता है, लगाम के बिना जैसे घोडा चलता है वैसे ही जो अनुशासन के विना चलता है वह नामधारी साधु है।[२]

इस युग में श्रमण थोडे हैं और मुण्डी अधिक हैं। वे साधु का भेख (भेष) पहन कर माया-जाल बिछा रहे हैं।[३] इस माया-जाल की अन्त्येष्टि के लिए उन्होंने मर्यादाएँ की। उनकी वाणी है—"शिष्यो ! वस्त्रो और सुविधाकारी गाँवो की ममता मे बध कर असख्य जीव चरित्र से भ्रष्ट हो गए है। इसलिए मैंने शिष्यो की ममता मिटाने व शुद्ध चारित्र को पालने का उपाय किया है, विनयमूल धर्म व न्याय मार्ग पर चलने का प्रण किया है। भेषधारी विकल शिष्यों को मूँड इकट्ठा कर लेते हैं। वे शिष्यो के भूखे होकर परस्पर एक-दूसरे में दोष बतलाते हैं, एक-दूसरे के शिष्यों को फँटा पृथक् कर लेते हैं, कलह करते हैं। मैंने ये चरित्र देखे हैं। इसलिए मैंने साधुओं के लिए ये मर्यादाएँ की

१—भिक्खु-दृष्टान्त ३०१, पृ०१२०

२—आचार की चौपई १ ३५

विण अकुस जिम हाथी चाले, घोडो विगर लगाम जी।
एहवी चाल कुगुरू री जाणों, कहिवा नें साध नांम जी॥

३—वही २. दू०२

समण थोडा नें मुड घणा, पांचमें आरे चेन।
भेष लेइ साधां तणो, करसी कूडा फेन॥

है। शिष्य-बाधा का सन्तोष करा कर सुखपूर्वक संयम पालने का उपाय किया है।[1]

११ विचार स्वातन्त्र्य का सम्मान

भारत में गणतन्त्र का इतिहास पुराना है। गणतन्त्र का अर्थ है—अनेक शासकों द्वारा शासित राज्य। जनतन्त्र जनता का राज्य होता है। गणतन्त्र की अपेक्षा जनतन्त्र अधिक विकासशील है। विकास की कसौटी है स्वतन्त्रता स्वतन्त्रता का मूल्य है आध्यात्मिक विचार।

जैनदर्शन के अनुसार प्रत्येक आत्मा की स्वतन्त्र सत्ता है। वह अपने ही कार्यों द्वारा स्वयं चालित होती है। उसकी व्यवस्था अपने आप में निहित है। प्रत्येक आत्मा स्वयं ब्रह्मा है, स्वयं विष्णु और स्वयं शंकर।

स्वतन्त्रता का वास्तविक मूल्यांकन धार्मिक जगत् में ही होता है। राजनीति में गणतन्त्र या जनतन्त्र हो सकता है पर स्वतन्त्रता का विकास नहीं हो सकता। राज्य का मूल मन्त्र है—शक्ति और धर्म का मूल मन्त्र है—पवित्रता। जहाँ शक्ति है वहाँ विवशता होगी और जहाँ पवित्रता है वहाँ हृदय की शुद्धि होगी।

हृदय की शुद्धि जिस अनुशासन को स्वीकार करती है वह है धर्म-शासन।

विवशता से जो अनुशासन स्वीकार करना होता है वह है राज्य-शासन।

धर्म-शासन हृदय का शासन है। इसलिये उसे एकतन्त्र गणतन्त्र जनतन्त्र जैसी राजनीतिक संज्ञा नहीं दी जा सकती। फिर भी यदि हम नामकरण का लोभ संवरण न कर सकें तो आचार्य भिक्षु की शासन प्रणाली को एकतन्त्र और जनतन्त्र का समन्वय कह सकते हैं।

एकतन्त्र इसलिये कि उसमें आचार्य का महत्त्व सर्वोपरि है। आचार्य का महत्त्व सर्वोपरि है इसलिए इसे 'एकतन्त्र' की संज्ञा मिल जाती यदि यह राजनीतिक विचार होता। किन्तु यह धर्म-शासन का एक प्रकार है। इसमें आचार्य को मानने के लिए दूसरे विवश नहीं किये जाते किन्तु साधना करने वाले स्वयं आचार्य को महत्त्व देते हैं। उनके निर्देशन में हो अपनी साधना को निर्बाध समझते हैं। जनतन्त्र इसलिये कि आचार्य अपने शिष्यों पर अनुशासन लादते नहीं किन्तु उन्हें उन्हीं के हित के लिए उसकी आवश्यकता समझा कर अनुशासित करते हैं। इसलिये यह न कोरा एकतन्त्र है और न कोरा जनतन्त्र किन्तु एकतन्त्र और जनतन्त्र का समन्वय है।

१—निशिथ : १८।१

आचार्य भिक्षु ने एक मर्यादा-पत्र मे लिखा है—"मैंने जो मर्यादाएँ की हैं, वे सब साधुओं के मनोभावों को देख कर, उन्हें राजी कर, उनसे कहला कर कि 'ये होनी चाहिए' की हैं। जिसका आन्तरिक विचार स्वच्छ हो, वह इस मर्यादा-पत्र पर हस्ताक्षर करे। इसमें शर्माशर्मी का कोई काम नहीं है। मुँह पर और तथा मन में और—यह साधु के लिये उचित नहीं है।"[1] यह हृदय की स्वतन्त्रता ही एकतन्त्र में जनतन्त्र को समन्वित करती है।

आचार्य भिक्षु ने अनुशासन को जितना महत्व दिया है, उतना ही स्वतन्त्रता का सम्मान किया है। एक ओर कोई साधु मर्यादा को स्वीकार करे और दूसरी ओर उसकी आलोचना करे—यह स्वतन्त्रता नहीं किन्तु अनुशासनहीनता है। स्वतन्त्रता वह है कि जो न जँचे, उसे स्वीकार ही न करे। स्वीकार कर लेने पर उसकी टीका-टिप्पणी करता रहे, यह अपने मतदान के प्रति भी न्याय नहीं है।[2]

एक साधु ने कहा—मुझे प्रायश्चित्त लेना है पर मैं आपके पास नहीं लूँगा। मुझे आपका विश्वास नहीं है।

आपने कहा—"आलोचना मेरे पास करो, दोष का निवेदन मुझे करो फिर प्रायश्चित्त भले उस तीसरे साधु से करो।"

प्रायश्चित्त कम-बेशी नहीं देना चाहिये, यह अनुशासन का प्रश्न है। इसलिए आपने आलोचना किसी के पास करने की छूट नहीं दी। आलोचना आप के पास होती है तो प्रायश्चित्त देने वाला कम नहीं दे सकता।

प्रायश्चित्त आचार्य के पास ही करना चाहिए, पर उस साधु ने दूसरे साधु के पास करना चाहा। यह उसकी मानसिक दुर्बलता है और आचार्यवर ने उसे यह छूट दी, वह उनकी मानसिक उच्चता है। यह ऊँचाई उन्हें स्वतन्त्रता का सम्मान करने के फलस्वरूप मिली थी।

उन्होंने एक मर्यादा-पत्र लिखा कि—"जो साधु मुझसे प्रायश्चित्त ले वह मुझ में भरोसा रखे। मुझे जैसा दोष लगेगा वैसा प्रायश्चित्त मैं दूँगा। प्रायश्चित्त देने के पश्चात् इसे थोड़ा दिया, उसे अधिक दिया—यों कहना अनुचित है। जिसे मुझ में विश्वास हो वह यह मर्यादा स्वीकार करे। जिसे मुझ में विश्वास न हो, वह न करे। मैं अपनी बुद्धि से तोल कर प्रायश्चित्त देता हूँ। राग-द्वेष वश कम-बेशी दूँगा तो उसका फल मुझे भुगतना होगा। इस पर भी किसी को मेरा

१—लिखित १८३२

२—वही १८३२

विश्वास न हो तो वह किसी दूसरे साधु से प्रायश्चित्त ले ले। पर प्रायश्चित्त लेने के बाद किसी प्रकार का विग्रह खड़ा न करे।"[1]

एक साधु की भूल ने उसकी छिपी हुई महात्मता को प्रकाश में ला दिया। फिर किसी भी साधु ने इस भूल को नहीं दुहराया।

स्वतन्त्रता का सम्मान वही कर सकता है जो अनुभूति की गहराई में डुबकियाँ ले चुका हो। आचार्य भिक्षु ने बहुत देखा बहुत सुना और बहुत सहा।

आप एक बार वायु रोग से पीड़ित हो गए थे उन दिनों की बात है। हेमराजजी स्वामी 'गोचरी' गए। भिक्षा की झोली आचार्यवर के सामने रखी। एक पात्र में दाल थी—चनों और मूंगों की मिली हुई।

आचार्यवर ने पूछा—यह चनों और मूंगों की दाल किसने मिलाई ?

हेमराजजी—मैंने।

आचार्यश्री—रोगी के लिए मूंग की दाल की खोज करना तो दूर रहा किन्तु जो सहज प्राप्त हुई उसे भी मिला कर लाया है ?

हेमराजजी—ध्यान नहीं रहा अनजाने ऐसा हो गया।

आचार्यश्री—यह ऐसी क्या गहरी बात थी जो ध्यान नहीं रहा ? वर्तमान की आवश्यकता को तू जानता है फिर अनजाने में यह कैसा हुआ ?

हेमराजजी स्वामी को आचार्य भिक्षु की यह बात चुभी। वे उदास हो एकान्त स्थान में जा लेट गए। आचार्य भिक्षु ने समय की सुई को कुछ और सरकने दिया। वे आहार कर आए और हेमराजजी स्वामी को सम्बोधित कर कहा—'अपना अवगुण देख रहा है या मेरा ?

हेमराजजी स्वामी ने कहा— 'गुरुदेव ! अपना ही देख रहा हूँ।

आचार्य भिक्षु बोले—"मैंने जो कहा है वह तुम्हें उलहना देने के लिए नहीं कहा है किन्तु तेरी स्वतन्त्र बुद्धि का सम्मान बढ़े, इसलिए कहा है। ठीक-ठीक निर्णय करने में तू भूल न करे, इसलिए कहा है।

१२ संघ-व्यवस्था

भगवान् महावीर के समय १४ हजार साधु और ३६ हजार साध्वियाँ थीं। ९ गण और ११ गणधर थे। उनकी सामाचारी एक थी। उनका विभाजन व्यवस्था की दृष्टि से था। प्राचीन समय में साधु-संघ में सात पद थे—(१) आचार्य (२) उपाध्याय (३) गणी (४) गणावच्छेदक (५) स्थविर (६) प्रवर्तक और (७) प्रवर्तिनी

१—लिखित। १८८१

२—भिक्षु दृष्टान्त। १६९ पृष्ठ ६८

इनके द्वारा हजारो-हजारो साधु-साध्वियो का कार्य-संचालन होता था। इनमें आचार्य का स्थान सर्वोपरि है। उपाध्याय का काम है संघ में शिक्षा का प्रसार करना, प्रवचन अविच्छिन्न रहे वैसी व्यवस्था करना।

गणी—मुनि-गण का व्यवस्थापक।

गणावच्छेदक—गण के विकास के लिए साधुओ की मण्डली को साथ लेकर गाँव-गाँव विहरने वाला और उनके संयम का ध्यान रखने वाला।

स्थविर—बड़ी उम्र वाला विशेष अनुभवी मुनि।

प्रवर्तक—संयम की शुद्धि और अभ्यास के लिए प्रेरणा देने वाला।

प्रवर्तिनी—साध्वियों की व्यवस्था करने वाली साध्वी।

एक व्यक्ति ने पूछा—आपके उपाध्याय कौन हैं?

आचार्य भिक्षु ने उत्तर दिया—कोई नही।

उसने कहा—तो उपाध्याय के बिना संघ पूर्ण कैसे होगा?

आचार्य भिक्षु ने उत्तर दिया—संघ पूर्ण है। सातो पदों का काम मैं अकेला देख रहा हूँ।

आचार्य और उपाध्याय एक होते थे—ऐसा प्राचीन साहित्य में मिलता है। आचार्य साधुओ को अर्थ पढाते और उपाध्याय सूत्र पढाते। जिन शिष्यो को अर्थ पढाते उनके लिए वे आचार्य होते और जिन्हें सूत्र-पाठ पढाते उनके लिए वे ही उपाध्याय होते। इस प्रकार एक ही व्यक्ति किसी के लिए आचार्य और किसी के लिए उपाध्याय होते।[1]

ओघ निर्युक्ति के अनुसार यह कोई आवश्यक नहीं कि आचार्य और उपाध्याय भिन्न ही हों। एक ही व्यक्ति शिष्यों को अर्थ और सूत्र दोनों दे सकता है और वह आचार्य और उपाध्याय दोनो हो सकता है।[2] इससे जान पड़ता है कि एक ही व्यक्ति के आचार्य और उपाध्याय होने की परम्परा पुरानी है। पर सातों पदों का काम एक ही व्यक्ति करे वह नई परम्परा है। इसका सूत्रपात आचार्य भिक्षु ने किया।

यह प्रथम दर्शन में कुछ अटपटा सा लगता है। दूसरों के अधिकारों पर प्रहार और व्यक्तिवाद को बढावा देने वाला कार्य सा लगता है। थोडे चिन्तन के बाद स्थिति ऐसी नही रहती। अधिकार का प्रश्न राज्य-शासन में होता है। धर्म-शासन में केवल धर्म-पालन का ही प्रश्न होता है। जो मुनि बनते हैं वे आचार्य, उपाध्याय आदि आदि पद पर बनने के लिए नहीं बनते। वे आत्म-

---

१—स्थानांग वृत्ति ५ २ ४३८

२—नावश्यमाचार्योपाध्यायैः भिन्नैर्भवितव्यम्,

अपितु क्वचिदसावेव सूत्रं शिष्येभ्यः प्रयच्छत्यसावेव चार्थम्। (ओघ० वृ० प० ३)

साधना के लिए मुनि बनते हैं। जहाँ आत्म-साधना गौण और पद-साधना प्रबल बन जाती है वहाँ मुनित्व गौण बन जाता है। जहाँ साधना आत्मा की होती है और पद का काम जिसे करना हो वह करे वहाँ साधना प्रधान और सर्वोपरि अभिलषणीय तथा पद गौण बन जाता है। जिस साधु संघ में पद का प्रश्न सर्वोपरि होता है वह प्राणहीन बन जाता है। पद और प्रतिष्ठा की भूख कोई नई बीमारी नहीं है। यह शाश्वत-सी है। इसका समूल-उन्मूलन होना तो बहुत ही कठिन है। इतना अवश्य होता है कि परिस्थिति की उत्तेजना मिलती है, तो वह बढ़ जाती है और उसकी उत्तेजना न मिलने पर वह शान्त रहती है।

आचार्य भिक्षु ने ऐसी व्यवस्था की जिससे किसी भी साधु को आचार्य पद की भूख रखने का अवसर ही न मिले।

उन्होंने लिखा— 'वर्तमान आचार्य की इच्छा हो तब वह गुरु-भाई अथवा अपने शिष्य को अपना उत्तराधिकारी चुने उसे सब साधु-साध्वियाँ आचार्य मान लें। सब साधु-साध्वियाँ एक ही आचार्य की आज्ञा में रहें यह परम्परा [illegible] भी है।"[1]

इस मर्यादा का तेरापंथ के आत्मार्थी साधु-साध्वियों ने बहुत ही आन्तरिकता से पालन किया है। आचार्य श्री तुलसी नवमें आचार्य हैं, इन्हें इनके पूर्ववर्ती आचार्य पूज्य प्रवर कालूगणी ने २२ वर्ष की अवस्था में अपना उत्तराधिकारी चुना। उस समय पाँच सौ के लगभग साधु-साध्वियाँ थीं। उनमें वय ज्ञान भी थे विद्वान् भी थे सभी प्रकार के थे। यह आँखों देखा विवरण है कि आचार्य तुलसी को संघ ने वही सम्मान दिया जो महान् यशस्वी पूर्ववर्ती आचार्य को देता था।

छट्ठे आचार्य माणकलालजी अपने उत्तराधिकारी का निर्वाचन नहीं कर सके। उनका अकस्मात् स्वर्गवास हो गया। फिर साधु-संघ मिला। सब साधुओं ने मुनि कालूजी को भार सौंपा। उन्होंने मुनि डालचन्दजी के नाम की घोषणा की। सब साधु-साध्वियों ने उन्हें अपना आचार्य स्वीकार कर लिया। हमारा इतिहास यह है कि आचार्य पद के लिए कभी कोई विवाद नहीं हुआ।

व्यवस्था आखिर व्यवस्था होती है। वह मापदण्ड साधना से बनती है। हमारे आचार्य और साधु जब तक साधना को अधिक महत्त्व देंगे तब तक आचार्य पद का प्रश्न जटिल नहीं बनेगा। साधना के गौण होने पर जो होता है सो होता ही है।

१—लिखित। १८३२

आचार्य-पद के निर्वाचन का प्रश्न जटिल न बने—इसका सम्बन्ध औरों की अपेक्षा आचार्य से अधिक है। आचार्य-पद व्यक्तिवाद से जितना अस्पृष्ट रह पाए, उतना ही वह विवादास्पद बनने से बचता रहेगा। साधु-साध्वियों से भी इसका सम्बन्ध न हो, ऐसा नहीं है। उनका दृष्टिकोण संघ की अपेक्षा अपना महत्त्व साधने में लग जाए तो आचार्य-पद की समस्या जटिल बने बिना नहीं रह पाती। स्वार्थ की दृष्टि खुलते ही सामुदायिकता का रूप धुंधला दीखने लगता है।

१३ गण और गणी

आचार्य भिक्षु की व्यवस्था में गणी की अपेक्षा गण का स्थान महत्त्वपूर्ण है। गणी गण में से ही आते हैं। गण स्थायी है, गणी बदलते रहते है। वे गण के प्रति उत्तरदायी होते हैं। गण के प्रति जैसी निष्ठा एक साधु की होती है, वैसी ही गणी की होती है। वे गण की सुव्यवस्था के लिए होते हैं। गण न हो तो गणी का अर्थ ही क्या ?

गण अवयवी है। गणी और साधु उसके अवयव है। गणी की तुलना पेट से की जाती है और साधु-साध्वियों की शेष अवयवों से। पेट से समूचे शरीर को पोष मिलता है, सभी अवयव उससे रस लेते हैं। सभी बीमारियाँ भी पेट से होती हैं। आचार्य की स्वस्थता सबसे अधिक अपेक्षित है। इसीलिए आचार्य अपने उत्तराधिकारी के निर्वाचन में बहुत सूक्ष्मता से पर्यालोचन करते हैं। आचार्य के निर्वाचन में इन बातों पर विशेष ध्यान दिया जाता है—

(१) आचार-कुशलता (२) गण-निष्ठा (३) अनुशासन की क्षमता (४) दूसरों को साथ लिए चलने की योग्यता (५) ज्ञान और व्यावहारिक निपुणता।

वर्तमान आचार्य को विश्वास हो जाता है और वे अपनी आयु के अन्तिम समय के लगभग या उससे पहले भी जब उचित लगे, तब वे एक पत्र लिख निर्वाचित मुनि को अपना उत्तराधिकारी घोषित कर देते हैं। आचार्य भिक्षु ने भारमलजी को अपना उत्तराधिकारी चुनते समय जो 'लिखत' लिखा, उसी में वर्तमान युवाचार्य का नाम जोड़ एक प्रति लिखी जाती है और उसमें वर्तमान के सभी साधु-साध्वियाँ अपने हस्ताक्षर करते हैं। यह कार्य उनकी सहर्ष स्वीकृति का सूचक होता है। वर्तमान आचार्य की उपस्थिति में युवाचार्य का कार्य आचार्य जो आज्ञा दे उसीको क्रियान्वित करना होता है। आचार्य के स्वर्गवास होने के पश्चात् उनके सारे अधिकार युवाचार्य के हस्तगत हो जाते है। गण के द्वारा विधिपूर्वक एक 'पट्टोत्सव' मनाया जाता है और आचार्य का बहुत सम्मान

किया जाता है। आचार्य का इतना सम्मान मेरी कल्पना नहीं है कहीं देखने को मिले। आचार्य गण के साधु-साध्वियों को उसी शरीर के अवयव मानते हैं। पेट और शेष अवयवों में संघर्ष हो तो समूचे शरीर को क्लेश होता है। आहार जुटाना पेट का काम नहीं है तो आहार को पचा कर पोष देना शेष अवयवों का काम नहीं है। दोनों अपना-अपना कार्य करते हैं तब शरीर स्वस्थ रहता है शक्ति बढ़ती है और सौन्दर्य खिलता है। आचार्य भिक्षु की व्यवस्था का प्राण यह सापेक्षता ही है।

गणी का कार्य है गण में समान आचार, समान विचार और समान प्ररूपणा को बनाए रखना। आचार और प्ररूपणा की समानता का मूल विचारों की समानता है। जैसा विचार होता है वैसा आचार बनता है और वैसी ही प्ररूपणा की जाती है। विचारों में अन्तर आता है तब आचार और प्ररूपणा में भी भेद आ जाता है।

विचार समान कैसे हो? यह बहुत बड़ा प्रश्न है। सब आदमी एक ही प्रकार से कैसे सोचे? शरीर पर नियन्त्रण हो सकता है पर विचारों पर नियन्त्रण कैसे हो? विचारो पर नियन्त्रण किया जाय तो व्यक्ति की स्वतन्त्रता नष्ट होती है। विचारों को खुली छूट दी जाय तो एकता नष्ट होती है। ये दोनों अपूर्ण हैं। साम्यवादी स्वतन्त्र विचारो की अभिव्यक्ति पर नियन्त्रण लगाते हैं तो जनतन्त्र में विचारो की उच्छृङ्खलतापूर्वक अभिव्यक्ति होती है। दोनों ही दोषमुक्त नहीं हैं। विचारो की स्वतन्त्रता की हत्या न हो और उच्छृङ्खलता न बढ़े, एकता का धागा न टूटे इसलिये किसी तीसरी धारा की आवश्यकता है।

जहाँ सिद्धान्तवादिता कम होती है वहाँ विचार भेद भी कम होता है। सिद्धान्तो की गहराई में विचारों के भेद पनपते रहते हैं। जैन-दर्शन सिद्धांत वादी अधिक है। उसमें तत्त्वों की छानबीन बड़ी सूक्ष्मता से की गई है। अहिंसा और संयम की ऐसी सूक्ष्म रेखाएँ हैं कि जिनसे थोड़े में ही विचार-भेद की सृष्टि हो जाती है। इसके साथ अनेकान्त-दृष्टि जुड़ी हुई है। यह नहीं होती तो विवाद सीमा पार कर जाता। अनेकान्त का ठीक ठीक उपयोग किया जाय तो विवाद बढ़े भी न हों और कदाचित् हो भी जायें तो वे सहसा मिट जायें। पर उसका उपयोग बहुत कम किया जाता है।

जैनधर्म के सम्प्रदायों का इतिहास देखिये। उनकी स्थापना के मूल में जितना एकान्त है उतना अनेकान्त नहीं है। सम्प्रदाय बहुत हैं यह कोई बहुत बड़ा दोष नहीं है। सम्प्रदायों में अनेकता बहुत है यह बड़ा दोष है। वीर निर्वाण के पश्चात् छ्ह सदियों तक संघ में एकता रही। यद्यपि व्यवस्था की दृष्टि से गुण और गण अनेक थे। पर संघ एक था। वीर निर्वाण की दसवीं

शती या देवर्धिगणी के पश्चात् संघ की एकता विछिन्न-सी होती गई । वर्तमान में केवल सम्प्रदाय है । संघ जैसी वस्तु आज नही है । पहले जो स्थिति संघ की थी, वही आगे चलकर सम्प्रदायो की होने लगी । एक ही सम्प्रदाय मे अनेक मत और अनेक परम्पराएँ स्थापित होने लगी ।

जैनो मे आपसी मत-भेद होने का मुख्य विषय आगम हैं । उनकी धार्मिक मान्यता का सर्वोपरि आधार आगम है । दिगम्बर जैन कहते है—आगम लुप्त हो गए । श्वेताम्बर जैन कहते हैं—कुछ आगम लुप्त हो गए और कुछ आगम अभी भी विद्यमान हैं । कुछ श्वेताम्बर सम्प्रदाय ४५ आगमो को और कुछ ३२ आगमो को प्रमाण मानते हैं । ४५ को प्रमाण मानने वालों में भी मतैक्य नही है और मतैक्य उनके भी नही है जो ३२ को प्रमाण मानते है । इसका कारण भी कोई बहुत गहराई मे नही है । आगम स्वय अर्थ नही देते । वे अपनी अपेक्षाओं को खोल कर हमारे सामने नही रख देते । उनका अर्थ करने वाले हम ही होते है । उनकी अपेक्षाओ का निर्णय भी हम ही करते है । अन्तिम निर्णय हमारी ही बुद्धि करती है । हम अपनी बुद्धि द्वारा जिस सूत्र-पाठ की जैसे सगति बिठा सकते है, उसे उसी रूप मे मान्य करते है ।

शब्द-ज्ञान को प्रमाण मानने में लाभ यह है कि उससे हमारे उच्छृङ्खल तर्क पर एक अकुश लग जाता है । बहुश्रुतों द्वारा सचित ज्ञान-राशि से हमें अपूर्व आलोक मिलता है । हेयोपादेय का अपूर्व चिन्तन मिलता है और वह सब कुछ मिलता है, जो साधना के लिए एक साधक को चाहिए । किन्तु पाने वाला केवल प्रकाश ही नहीं पाता, कुछ न कुछ अन्धकार भी पाता है । ज्ञान-राशि में अन्धकार नही होता । हम कोरे ज्ञान को नही लेते, आगम के आशय को नही लेते, साथ-साथ शब्दो को भी पकडते हैं और शब्दो की पकड जितनी मजबूत होती है, उतनी आशय की होती ही नहीं । चातुर्मास मे मुनि को एक जगह रहना चाहिए, यह आगमिक विधान है । वर्षाकाल में हरियाली और जीव-जन्तु अधिक उत्पन्न होते है, मार्ग जल से भर जाते हैं, पानी गिरता है—इन कारणो से चातुर्मास में विहार करने का निषेध है । दक्षिण भारत में कुछ प्रदेश ऐसे हैं जहाँ कार्तिक के पश्चात् बरसात शुरू होती है । आशय को पकडा जाय तो वहाँ चातुर्मास शरद् और हेमन्त में होना चाहिए । किन्तु शब्दों की पकड ऐसा नहीं होने देती । शब्दों को पकड कर विचार-भेद खडा कर देने की समस्या नई नहीं है । इसका सामना सभी को करना पडा है । इसके द्वारा अनेकता भी उत्पन्न हुई है । आचार्य भिक्षु ने तेरापथ की व्यवस्था को इस अनेकता के दोष से बचाना चाहा । उन्होंने लिखा है—"किसी साधु को आचार, श्रद्धा, सूत्र या काल सम्बन्धी किसी विषय की समझ न पडे तो वह, आचार्य तथा बहुश्रुत साधु कहे,

उसे मान ले। उनके समझाने पर भी बुद्धि में न बैठे तो उसे केवलीगम्य कर दे। किन्तु दूसरे साधुओं को सन्देह में डालने का यत्न न करे।"[1]

"श्रद्धा या आचार का कोई नया विषय ध्यान में आए तो उसे बड़ों के सामने चर्चा जाए, औरों से न चर्चा जाए। औरों से उसकी चर्चा कर उन्हें सन्देह में डालने का यत्न न किया जाए। बड़े जो उत्तर दें वह अपने हृदय में बैठे तो मान लिया जाए और यदि न बैठे तो उसे केवली-गम्य कर दिया जाए। पर उसकी खींचतान बढ़ाकर गण में भेद न डाला जाए।"[2]

आचार्य भिक्षु का यह विधान संघ की एकता को अक्षुण्ण रखने का अमोघ उपाय है। वास्तविक सत्य क्या है? इसका समाधान हमारी बुद्धि के पास नहीं है। हम व्यावहारिक सत्य के आधार पर ही सारा कार्य चलाते हैं। हमने जो निर्णय लिया वही अन्तिम सत्य है—इतना आग्रह रखने जैसा पुष्ट साधन हमें उपलब्ध नहीं है।

व्यावहारिक सत्य की स्वरूप-मीमांसा कविवर 'प्रसाद' ने बड़े मार्मिक ढंग से की है—

'और सत्य यह एक शब्द तू
कितना गहन हुआ है।
मेधा के क्रीड़ा पंजर का
पाला हुआ सुआ है।
सब बातों में खोज तुम्हारी
रट-सी लगी हुई है।
किन्तु स्पर्श यदि करते हम
लगता छुईमुई है।'

हम जिसे सत्य मानते हैं सम्भव है वह सत्य न भी हो। हम जिसे सत्य नहीं मानते सम्भव है वह सत्य हो। सीमित शब्दों में अनन्त सत्य को बाँधना भी कठिन है और उसे सीमित बुद्धि द्वारा पकड़ना तो और भी अधिक कठिन है। इसीलिए आचार्य भिक्षु ने कहा—'हम जो कर रहे हैं वह उत्तरवर्ती आचार्यों को सही लगे तो करें और सही न लगे तो उसे छोड़ दें।'[3]

१—लिखित : १८४१

२—लिखित : १८५

३ श्रद्धा री चौपई : १६ ५१

मोनें तो बतावां रो दोष न भासे आंनें में शुध व्यवहार।
जे निर्दोष दोष बतावां में आंनां तो मत बारली बिगार रे।

इस उक्ति के आधार पर अनेक परिवर्तन भी हुए। कुछ लोगों ने प्रश्न उपस्थित किया कि प्रचलित परम्परा में परिवर्तन जो किया है, उसका अर्थ यह हुआ कि या तो वे सही नहीं थे या आप सही नहीं है, या तो उनकी मान्यता सही नहीं थी या आपकी सही नहीं हैं ? इसका समाधान इन शब्दों में किया जाता रहा है—"पूर्ववर्ती आचार्यों ने जो किया, उसे उन्होंने व्यवहार-सत्य की दृष्टि से सही मान कर किया, इसलिए वे भी सही हैं और अभी हम जो कर रहे हैं, उसे भी व्यवहार-सत्य की दृष्टि से सही समझ कर कर रहे हैं, इसलिए हम भी सही हैं। उनकी सत्य-निष्ठा में हमें विश्वास है, इसलिए हमारी दृष्टि से भी वे सही हैं और हमारी सत्य-निष्ठा में उनको विश्वास था, तभी तो उन्होंने हमें यह अधिकार दिया, इसलिए उनकी दृष्टि से हम सही हैं।"

सत्य पूर्ववर्ती आचार्यों या साधुओं की पकड़ में ही आ सकता है, यह भी कोई महत्त्व की बात नहीं है और वह आधुनिक आचार्यों या साधुओं की पकड़ में नहीं आ सकता, इसका भी कोई महत्त्व नहीं है। जो सत्य पहले नहीं पकड़ा गया, वह आज पकड़ा जा सकता है और जो आज नहीं पकड़ा गया वह पहले पकड़ा गया है। यह विरोध नहीं है। यह सापेक्षता है। ज्ञान, बौद्धिक-निर्मलता, चारित्रिक-विशुद्धि, दृष्टि-सम्पन्नता और साधन-सामग्री अधिक उपलब्ध होते हैं तो सत्य के निकट पहुँचने में सुलभता होती है और इनकी उपलब्धि कम हो तो उसके निकट पहुँचना दुर्लभ होता है। इनकी उपलब्धि किसी समय में सबों को होती है, यह भी सच नहीं है और किसी समय में किसी को भी नहीं होती, यह भी सत्य से परे है। इस सारी वस्तु-स्थिति को ध्यान में रखकर आचार्य भिक्षु ने जो विधान किया है वह बहुत ही महत्त्वपूर्ण है और सैद्धान्तिक मतभेदों को तान-तान कर आग्रह के गड्ढों में गिरने से बचाता है।

इससे न तो विचार-स्वातन्त्र्य का हनन होता है और न आग्रह को वैसा बढ़ावा ही मिलता है, जिससे गण में कोई दरार पड़ सके।

इसका सारांश यह है कि मनुष्य अपने विचार को व्यवहार में सत्य मान कर चले, किन्तु उसका इतना आग्रह न रखे कि जिस से संगठन की एकता का भंग हो जाए।

जो सत्य लगता है उसे छोड़ा भी कैसे जाए और जो सत्य नहीं लगता उसे स्वीकार भी कैसे किया जाए—यह समस्या है और जटिलतम समस्या है। पर यह भी उतनी ही बड़ी समस्या है कि जिसे मैं सत्य मानता हूँ, वह सत्य ही है, इसका निर्णय मैं कैसे करता हूँ ? आखिर सीमित बुद्धि, सीमित साधनों और देश-काल की सीमित मर्यादाओं के द्वारा ही तो मैं उसे सत्य मान रहा हूँ। इसलिये इतना आग्रह कैसे रख सकता हूँ कि जो मैंने पाया वही अन्तिम सत्य है। जो

व्यक्ति अकेला हो या अकेला रहना चाहता हो वह फिर भी ऐसा आग्रह रख सकता है किन्तु जो किसी समुदाय में रहना चाहे और रहे वह ऐसा आग्रह कैसे रखे ? उसके लिए मार्गदर्शन यह है कि बहुश्रुत साधुओं व आचार्य के सामने अपना विचार रख दे फिर वे जो मार्ग सुझाएँ उसका अनुगमन करे।

यह विचार-स्वतंत्रता का हनन नहीं है। यह सामंजस्य का मार्ग है। यह किसी स्वार्थ या मानसिक दुर्बलता से किया जाए तो वह दोष है। यह निर्दोष तभी है, जब कि अपनी अपूर्णता और सत्य-शोध की विनम्र भावना से प्रेरित हो किया जाए।

आचार्य भिक्षु ने अन्तिम निर्णायक आचार्य को माना है। फिर भी उन्होंने बहुश्रुत साधुओं को उचित स्थान दिया है। उन्होंने लिखा है—"किसी विषय को प्रामाणिक या अप्रामाणिक ठहराने का अवसर आए तो उसके लिए बहुश्रुत साधुओं को भी पूछा जाए।[1]

किसी साधारण बुद्धि वाले साधु के जैसे कोई विचार भेद हो सकता है वैसे बहुश्रुत साधुओं में भी विचार भेद हो सकता है। सामान्य साधु के लिये यह निर्देश पर्याप्त हो सकता है कि वह बहुश्रुत के मार्ग का अनुगमन करे, किन्तु जब दो या अनेक बहुश्रुतों में परस्पर विचार भेद हो जाए तब क्या किया जाए ?

इसके समाधान का पहला सोपान तो यह है कि वे बहुश्रुत साधु परस्पर बातचीत कर, उस चर्चनीय विषय का समाधान ढूँढें। जैसा कि आचार्य भिक्षु ने लिखा है—"कोई चर्चा या श्रद्धा का प्रश्न उपस्थित हो तो बहुश्रुत या बुद्धिमान साधु सोच विचार कर उसका समाधान ढूँढ सामञ्जस्य बिठायें। किसी विषय का सामञ्जस्य न बैठे तो खींचतान न करें उसे केवली-गम्य करें किन्तु आगे बात भी खींचतान न करें।

इससे भी काम पूरा न हो तो फिर आचार्य जो निर्णय दे उसे मान्य कर लें। आचार्य भिक्षु ने इस विषय की अपने अनेक मर्यादा-पत्रों में चर्चा की है। उसका उद्देश्य विचार-स्वातन्त्र्य का लोप करना नहीं है। उसका उद्देश्य है विचारों के संघर्ष को उपशान्त किये रखना। वैचारिक-पराधीनता जैसे अच्छी बात नहीं है वैसे ही वैचारिक-संघर्ष भी अच्छा नहीं है। अच्छी बात है मन की शान्ति और शान्ति में से ही अच्छे विचार निकलते हैं।

जिसका मन दूसरों को बकाशील बना कर अपने गुट में मिलने का होता है जो संघ में भेद डाल अपना नया मत खड़ा करना चाहता है वह संघ अशान्त।

१—लिखित : १८३२

२—लिखित : १८५९

मन की प्रतिक्रिया है। आचार्य भिक्षु इसको रोकना चाहते थे। इसलिये उन्होंने पुनरुक्ति का विचार किये बिना बार-बार इसे दोहराया—"कोई श्रद्धा या आचार का नया विषय निकल आए तो उसकी चर्चा बड़ों से की जाय, पर औरों में न की जाय। औरों से उसकी चर्चा कर उनको सदिग्ध न बनाया जाय। बड़े जो उत्तर दें वह अपने हृदय में बैठे तो उसे मान लिया जाय और न बैठे तो उसे केवली-गम्य कर दिया जाय। पर उस विवादास्पद विषय को लेकर गण में भेद न डाला जाय।"[1]

समूचे का सारांश इतना है—"अपने विचारों का ऐकान्तिक आग्रह सामान्य साधु भी न करे, बहुश्रुत साधु भी न करे और आचार्य भी न करे। तर्क की पूँछ को बहुत लम्बी न बनाए। सामान्य साधु बहुश्रुत व आचार्य पर विश्वास करे और आचार्य बहुश्रुतों की बात पर समुचित ध्यान दें।" इस प्रकार यह एक ऐसी शृङ्खला गूँथी है, जिसमें न कोई पूरा स्वतन्त्र है और न कोई पूरा परतन्त्र। स्वतन्त्रता उतनी ही है कि जिससे साधना का मार्ग अवरुद्ध न हो और परतन्त्रता उतनी ही है जिससे साथ में रहने में बाधा उत्पन्न न हो। गण की शक्ति, सौहार्द और विकास का पथ अवरुद्ध न हो।

: १४ : निर्णायकता के केन्द्र

शास्त्रों में 'आचार्य' शब्द के अनेक निरुक्त और परिभाषाएँ हैं। उनके पीछे अनेक अभिप्राय और अनेक कल्पनाएँ हैं।

कुछ वर्ष पहले मर्यादा-महोत्सव के अवसर पर मैंने एक कविता लिखी। उसमें आचार्य की परिभाषा इन शब्दों में है

तू जो कहता सत्य नहीं है, मैं कहता हूँ सत्य वही है—
'तू' 'मैं' के इस झगड़े का जो, शान्ति-पाठ आचार्य वही है॥

सगठन की दृष्टि से यह परिभाषा मुझे बहुत अच्छी लगी। परिभाषा की सूझ मेरी नहीं है। मेरी अपनी वस्तु केवल कविता की पंक्तियाँ हैं। यह मौलिक-तत्त्व आचार्य भिक्षु और उनके महान् भाष्यकार जयाचार्य से मिला।

जहाँ सगठन होता है, वहाँ अनेक व्यक्ति होते हैं और जहाँ अनेक व्यक्ति हैं, वहाँ अनेक विचार होते हैं। अनेक विचार सगठन को एक कैसे बनाए रख सकते हैं?

सगठन आचार और विचार की एकरूपता के आधार पर ही टिक सकता है। जितने व्यक्ति उतने ही प्रकार के विचार—यह स्थिति सगठन के अनुकूल नहीं होती। व्यक्तिगत विचारों की स्वतन्त्रता होती है और वह होनी ही चाहिए,

---

१—लिखित १८५०

किन्तु उसकी भी एक सीमा है। जैसे एक व्यक्ति अपने विचारों के लिये स्वतन्त्र है वैसे दूसरा भी है। वैयक्तिक स्थिति में ऐसा हो सकता है। पर मिल कर चलने की स्थिति में ऐसा नहीं हो सकता।

संगठन व्यावहारिक होता है। व्यवहार की स्थिति का अनुमापन व्यवहार से ही होता है। वहाँ विचारों पर अंकुश नहीं लगता किन्तु एकरूपता में बाधक डालने वाले विचार पर नियन्त्रण अवश्य होता है। इसे भले ही संगठन की दुर्बलता माना जाए। पर यह किसी एक व्यक्ति की दुर्बलता नहीं है। जिन्होंने संगठन करना चाहा है उन्होंने यह भी चाहा है कि हम एक रूप रहें। इस एकरूपता की चाह में से ही यह तत्त्व प्रकट होता है कि उसमें बाधा डालने वाले विचारों पर नियन्त्रण रहे। साथ-साथ यह भी स्पष्ट कर देना उचित होगा कि कोरी एकरूपता भी अभीष्ट नहीं है। मूल सूखने लगे तब ऊपरी सौन्दर्य का मूल्य ही क्या है और वह टिकता भी कब है? सत्य आचार और संयम की निष्ठा बनी रहे उसी स्थिति में संगठन का महत्त्व है और उसी स्थिति में इसका महत्त्व है कि साधारण सी बातों को लेकर अनेकता का बीज न बोया जाए। कोई नया विचार आए तो उसका प्रयोग सब या सब-पति—जहाँ निर्णायकता केन्द्रित हो उन्हीं की स्वीकृति से किया जाए।

एकतन्त्रीय अनुशासन में निर्णायक एक होता है और बहुतन्त्र में दुरेक। इसके सब निर्णायक कहीं भी नहीं होते। एकतन्त्र में एक के सामने निन्यानवें की उपेक्षा हो सकती है और बहुतन्त्र में ५१ के सामने ४९ की। सर्व सम्मति के निर्णय की स्थिति श्रद्धा ही है। विचार तर्क या बुद्धि के प्रवाह से वह स्थिति नहीं बनती। श्रद्धा का अर्थ है—आग्रहहीनता नम्रता और सत्य-शोध की सतत साधना। सत्य का शोधक कभी भी आग्रही नहीं होता। वह अपने विश्वास को दृढ़ता के साथ निभाता है फिर भी नम्रता को नहीं छोड़ता।

व्यक्ति-व्यक्ति की रुचि विभिन्न होती है। संस्कार भी अपने निराले होते हैं। अधिकांश व्यक्ति अपने रुचि और संस्कारों को जितना महत्त्व देते हैं उतना वस्तु स्थिति को नहीं देते। परन्तु साधना का मार्ग संस्कारों से ऊपर उठकर चलने का है। श्रद्धा की यही विशेषता है कि उसमें सारी धाराएँ लीन हो जाती हैं। नदियाँ कहीं सीधी चलती हैं और कहीं टेढ़ी। आखिर वे समुद्र के गर्भ में लीन हो जाती हैं। विचारों के प्रवाह कहीं ऋजु होते हैं और कहीं वक्र। आखिर वे आचार्य के निर्णय में लीन हो जाते हैं। यही है आचार्य भिक्षु की मर्यादा का माहात्म्य।

रुचीनां वैचित्र्याद् ऋजुकुटिलनानापथजुषां।
नृणामेकोगम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव ॥

दार्शनिक-कवि की वाणी में अद्वैत का जो काल्पनिक-चित्र है उसे आचार्य भिक्षु ने साकार बना दिया। उनकी मर्यादावलि के अनुसार आचार्य सबके गम्य बन गए।

: १५ : गण में कौन रहे ?

सम-विचार, आचार और निरूपणा के प्रकार में जिन्हें विश्वास होता है वे गण के सदस्य होते है। गण किसी एक-दो से नही बनता। वह अनेको की सम-जीवन-परिपाटी से बनता है। गण तब बनता है, जब एक दूसरे में विश्वास हो। गण तब बनता है, जब एक दूसरे में आत्मीयता हो। गण तब बनता है, जब सब में ध्येय की निष्ठा हो।

आचार्य भिक्षु ने लिखा है—"सब साधु शुद्ध आचार का पालन करें और परस्पर में प्रगाढ प्रेम रखें।"[१]

प्रेम परस्पर में रखना चाहिए—यह इष्ट बात है। इसका उपदेश देना भी इष्ट है। पर इष्ट की उपलब्धि कैसे हो ? आचार्य भिक्षु ने उसके कई मार्ग सुझाए है। लिखा है

(१) साधु गण के साधु-साध्वियो को साधु माने।

(२) जो अपने आपको भी साधु माने, वह गण में रहे।

(३) कपटपूर्वक गण में साधुओं के साथ न रहे।

(४) साधु नाम धरा कर असाधुओं के साथ रहना अनुचित है।

(५) जिसका मन शुद्ध हो वह ऐसा विश्वास दिलाए।

(६) वह गण के किसी भी साधु-साध्वी का अवगुण बोलने का, आपस में एक-दूसरे के मन में भेद डालने का, एक-दूसरे को असाधु मनवाने का त्याग करे।[२]

(७) मेरी इच्छा होगी तब तक गण में बैठा हूँ, इच्छा नही होगी तब यहाँ से चला जाऊँगा—इस अनास्था से गण में न रहे।

(८) सकोचवश गण में न रहे।[३]

इसमें गण, गणी और गण के सभी सदस्यो के प्रति और अपने प्रति भी आस्था की अभिव्यञ्जना है। जिसकी ऐसी आस्था होती है, वह दूसरों का प्रेम ले सकता है और अपना प्रेम दूसरों को दे सकता है। प्रेम तभी टूटता है जब एक-दूसरे में अनास्था का भाव होता है।

१—लिखित १८५०
२—लिखित १८५०
३—लिखित १८४५

१६ : गण में किसे रखा जाए ?

योग्यता और अयोग्यता का अंकन कई दृष्टियों से होता है। स्वस्थ व्यक्ति शारीरिक दृष्टि से योग्य होता है और अस्वस्थ व्यक्ति अयोग्य। बौद्धिक योग्यता किसी में होती है, किसी में नहीं होती। कोमल प्रकृति वाला व्यक्ति स्वभाव से योग्य होता है और कठोर प्रकृति वाला अयोग्य।

शारीरिक अशक्ति की स्थिति में दूसरों को कष्ट होता है। सेवा का कष्ट शारीरिक है। पर वह वस्तुतः कष्ट नहीं श्रम है।

बौद्धिक योग्यता हो तो बहुत लाभ होता है। वह न हो तो उतना लाभ नहीं होता पर उससे किसी को क्लेश भी नहीं होता।

स्वभाव की चण्डता जो है वह दूसरों में क्लेश उत्पन्न करती है।

आचार्य भिक्षु ने शारीरिक अयोग्यता वाले व्यक्ति को गण में रखने योग्य बतलाया है। उन्होंने वैसे व्यक्ति को गण में रखने के अयोग्य बतलाया है जो अपने स्वभाव पर नियंत्रण न रख सके। उन्होंने लिखा है :

(१) कोई साधु रुग्ण हो या बूढ़ा हो तब दूसरे साधु अग्लान भाव से वैयावृत्त्य—सेवा करें।

(२) उसे संलेखना—विशिष्ट तपस्या करने को न उकसायें।

(३) वह विहार करना चाहे और उसकी आँखें दुर्बल हों तो दूसरा साधु उसे देख-रेख चलाए।

(४) वह रुग्ण हो तो उसका बोझ दूसरे साधु लें।

(५) उसका मन चाहता हो वैसा कार्य करें।

(६) उसमें साधुत्व हो तो उसे 'छेह' न दें—छोड़ें नहीं।

(७) वह अपनी स्वतन्त्र भावना से वैराग्यपूर्वक संलेखना करना चाहे तो सभी सहयोग व उसकी सेवा करें।

(८) कदाचित् एक साधु उसकी सेवा करने में अपने को असमर्थ माने तो सभी साधु अनुक्रम से उसकी सेवा करें।

(९) कोई सेवा न करे तो उसे टोका जाए और उससे कराई जाए।

(१) रुग्ण साधु को सब साधु इकट्ठे होकर कहें वह आहार दिया जाए।

(११) किसी साधु का स्वभाव अयोग्य हो जिसे कोई निभा न सके जिसे कोई साथ न ले जाए, तब उसे विनम्र व्यवहार करना चाहिए। बड़े साधु जैसे चलाएँ वैसे चले। जो विनम्र व्यवहार में न लग सके तो वह तपस्या में लग जाए। इन दोनों में से कोई कार्य न करे तो उसके साथ फिर कौन संबंध रखना होगा ?

(१२) रोगी की अपेक्षा स्वभाव का अयोग्य अधिक दुःखदायी होता है। उसे गण में रखना अच्छा नहीं है।

(१३) जो मर्यादाओं को स्वीकार करे उसे गण में रखा जाए।[1]

योग्य व्यक्ति गण में होते हैं, उससे गण की शोभा बढ़ती है और साधना का पथ भी सरल बनता है। अयोग्य व्यक्ति में साधना का भाव नहीं होता, अपनी प्रकृति पर वह नियन्त्रण करना नहीं चाहता या कर नहीं पाता। उससे गण की अवहेलना होती है और दूसरों को भी बुरा बनने का अवसर मिलता है। कुछ व्यक्ति निसर्ग से ही अयोग्य होते हैं और कुछेक अपने आप पर नियन्त्रण न रखने के कारण अयोग्य बन जाते हैं। आचार्य भिक्षु ने उन कारणों का उल्लेख किया है जिनसे अयोग्यता आती है और बढ़ती है। उनकी वाणी है—"शिष्यो ! कपड़े और सुख-सुविधा मिले, वैसे गाँवों की ममता कर बहुत जीव चरित्र से भ्रष्ट हो जाते हैं।"[2]

कुछ कारण ऐसे होते हैं कि किसी साधु को गण से पृथक् करना पड़ता है और कुछ प्रसगों में कुछ साधु स्वयं ही गण से पृथक् हो जाते हैं।

अकल्पनीय कार्य करने वाले साधु को गण से पृथक् करने की विधि बहुत ही प्राचीन है।[3] दीक्षित करने का अधिकार जैसे मूलतः आचार्य के हाथों में है, वैसे ही किसी को गण से पृथक् करने का अधिकार भी आचार्य के हाथों में है। परम्परा यह हो गई है कि पहले कोई व्यक्ति योग्य जान पड़ता तो साधु उसे दीक्षित कर लेते, पर अब ऐसा नहीं होता। गण से पृथक् करने का अधिकार इससे अधिक व्यापक है। कोई साधु गण की मर्यादा के प्रतिकूल चले तो उसे गण से पृथक् करने का अधिकार सबको है। ऐसे भी प्रसङ्ग आए हैं कि गृहस्थों ने भी साधुओं को गण से पृथक् कर दिया। परन्तु इस कार्य में विवेक की बहुत आवश्यकता है। अधिकार होने पर भी उपयोग वही करता है और उसे करना चाहिए कि जो परिस्थिति का सही-सही अकन कर सके। कोई व्यक्ति जैन-मुनि बनता है वह बहुत बड़ी बात है। मुनि कुछेक वर्षों के लिये नहीं बनता, उसे जीवन भर मुनि-धर्म का पालन करना होता है। गृहस्थ-जीवन से उसके सारे सम्बन्ध छूट जाते हैं। उसके पास भावी जीवन की कोई निधि नहीं होती। वह निरालम्ब मार्ग में ही चलता है। वैसी स्थिति में पूर्ण चिन्तन किये बिना किसी को गण से पृथक् कर देना न्याय नहीं होता। इसलिए सामान्य स्थिति में इस विषय में अधिकार का उपयोग करने से पूर्व आचार्य

१—लिखित १८४५
२—लिखित १८३२
३—स्थानाङ्ग ३ १७३

की सहमति प्राप्त करना अपेक्षित-सा लगता है। गण से स्वयं पृथक होने के भी अनेक कारण हैं। कुछ कारणों का उल्लेख आचार्य भिक्षु ने किया है। जैसे—

(१) कोई साधुपन का पालन न कर सके।

(२) किसी भी साधु से स्वभाव न मिले।

(३) क्रोधी या ढीठ जानकर कोई भी अपने पास न रखे।

(४) विहार करने के लिए सुविधाजनक गाँव में न भेजा जाए।

(५) कपड़ा मन चाहा न दिया जाए।

(६) अयोग्य जान कर दूसरे साधु मुझे गण से पृथक करने वाले हैं—ऐसा मालूम हो जाए।

ये तथा ऐसे और भी अनेक कारण हैं जिनसे प्रभावित होकर कोई साधु गण से पृथक हो जाता है।[1]

: १७ पृथक् होते समय

साधु-जीवन साधना का जीवन है। उसमें बल से कुछ भी नहीं होता। साधना हृदय की पूर्ण स्वतन्त्रता से ही हो सकती है। आचार्य साधुओं पर अनुशासन करते हैं पर तभी जबकि साधु ऐसा चाहे। मार्गदर्शन या शिक्षा प्रार्थी को दी जाती है। कोई प्रार्थी ही न हो तो उसे कौन क्या मार्ग दिखाए और कौन क्या सीख दे? शिष्य आचार्य के अनुशासन का प्रार्थी होता है। इसलिए आचार्य उसे अनुशासन देते हैं। जब वह प्रार्थी न रहे तब आचार्य भी अपना हाथ खींच लेते हैं। फिर वह स्वतन्त्र है जहाँ चाहे वहाँ रहे और जो चाहे सो करे। गण से पृथक होने का यही अर्थ है।

आचार्य भिक्षु ने इसके लिए भी कुछ निर्देश दिए हैं। उनके अभिमत से गण से पृथक होते समय और होने के पश्चात् भी कुछ शिष्टाचारों का पालन करना चाहिए। उन्होंने लिखा है—

(१) किसी का मन गण से उचट जाए अथवा किसी से साधु-जीवन न निभे उस समय वह गण से पृथक हो तो किसी दूसरे साधु को साथ न ले जाए।

(२) किसी को शिष्य बनाने के लिए गण से पृथक हो तो शिष्य बना कर नया मार्ग या नया सम्प्रदाय न चलाए।

(३) गण से पृथक होने का मन हो जाने पर गृहस्थों से मालूम दूसरे साधुओं की निन्दा न करे।

१—लिखित । १८

(४) गण में रह कर ग्रन्थो की प्रतिलिपियाँ करे या कराए अथवा किसी के पास से ले, वे तब तक ही उसकी हैं जब तक गण में रहे। गण से पृथक् होने के समय उन्हें साथ न ले जाए। क्योकि वे सब गण के साधुओ की 'निश्रा' में हैं।

(५) कोई पुस्तक आदि गृहस्थो से ले, उन्हें आचार्य की, गण की 'निश्रा' में ले, अपनी 'निश्रा' में न ले। अनजान में कोई ले भी ले तो वे पुस्तक-पन्ने आचार्य के है, गण के है, उन्हें गण से पृथक् होते समय साथ न ले जाए।

(६) पात्र आदि भी गण में रहता हुआ ले, वे भी आचार्य व गण की 'निश्रा' में ले, आचार्य दे वह ले। गण से पृथक् होते समय उसे साथ न ले जाए।

(७) नया कपडा ले, वह भी आचार्य व गण की 'निश्रा' में ले। गण से पृथक् होते समय उसे साथ न ले जाए।[१]

(८) गण से पृथक् होने के पश्चात् गण के साधु-साध्वियो के अवगुण न बोले।

(९) शका बढे, आस्था घटे वैसी बात न कहे।

(१०) गण में से किसी साधु को फँटा कर साथ न ले जाए, वह आए तो भी न ले जाए।[२]

(११) गण से पृथक् कर देने पर या स्वय हो जाने पर वहाँ न रहे, जहाँ इस गण के अनुयायी रहते हैं। चलते-चलते मार्ग में वह गाँव आ जाए तो एक रात से अधिक न रहे। कारण विशेष में रहे तो 'विगय' न खाए।

(कोई पूछे यह निषेध क्यों, तो उसका कारण आचार्य भिक्षु ने इन शब्दों में बताया है : "राग-द्वेष और क्लेश बढने तथा उपकार घटने की सम्भावना को ध्यान में रख कर ऐसा किया है।")

(१२) गण से पृथक् होते समय एक पुराना 'चोलपट्टा', एक 'पछेवडी', चद्दर, मुखवस्त्रिका, पुराने कपडे और पुराना रजोहरण—इनके सिवाय और कोई उपकरण या पुस्तक साथ में न ले जाए।[३]

इन निर्देशों में सामुदायिक जीवन-प्रणाली की एक स्पष्ट रूपरेखा है। आचार्य भिक्षु ने जितना बल सविभाग पर दिया है उतना ही बल प्रत्येक धर्मोपकरण के सघीयकरण पर दिया है। साधु किसी भी धर्मोपकरण पर ममत्व न रखे—यह

१—लिखित . १८५०

२—लिखित १८४५

३—लिखित १८५९

सामाजिक सिद्धान्त है। इसे उन्होंने व्यवस्था के द्वारा व्यावहारिक रूप प्रदान किया।

१८ : गुटबन्दी

साधना और गुटबंदी का भला क्या मेल ? गुटबंदी वे करते हैं जिन्हें अधिकार हथियाना हो। गुटबंदी वे करते हैं जिन्हें सत्ता हथियानी हो। साधना धर्म है। जहाँ धर्म होता है वहाँ न अधिकार होता है और न सत्ता। फिर भी समुदाय आखिर समुदाय है। यह गुटबन्दी की परिस्थिति है।

जिनके विचार और स्वार्थ एक रेखा पर पहुँचते हैं वे स्नेह-सूत्र में बंध जाते हैं और परमार्थ को कुछ विस्मृत-सा कर देते हैं। साधु-संघ में गुटबन्दी के कारण जो बनते हैं उनका उल्लेख आचार्य भिक्षु ने किया है—

“किसी साधु को विहार-क्षेत्र साधारण सा सौंपा गया अथवा अपना साधारण दिया गया—इन कारणों तथा ऐसे ही दूसरे कारणों से कुपित होकर वे आचार्य की निन्दा करते हैं अवगुण बोलते हैं परस्पर मिल कर गुटबन्दी करते हैं।’ [1]

‘भिक्षु गण में रहते हुए भी दूसरे साधुओं के मन में भेद डाल कर जो गुटबन्दी करते हैं वे विश्वासघाती हैं। ऐसा करने वाले चिर-काल तक संसार में परिभ्रमण करते हैं।’ [2]

गुटबन्दी राजनीति का चक्र है। इसमें फँसने वाला साधक अपनी साधना को जीर्ण-शीर्ण कर देता है।

अपमान उसीके लिए है जिसके चित्त का विक्षेप होता है। जिसके चित्त का विक्षेप नहीं होता उसके लिए अपमान जैसी कोई वस्तु है ही नहीं :

अपमानादयस्तस्य विक्षेपो यस्य चेतसः।
नापमानादयस्तस्य न क्षेपो यस्य चेतसः॥

जिसने चित्त का विक्षेप नहीं छोड़ा वह कैसा है साधक और कैसी है उसकी साधना ?

मन-मुटाव का प्रमुख कारण है स्वार्थ की क्षति। जो स्वार्थ में लिप्त होता है वह निर्लेप नहीं बन सकता। आचार्य के अनुग्रह का महत्त्व यही है कि उससे साधु को साधना का सहयोग मिले। उसे भी वह किसी स्वार्थ की पूर्ति में लगाए तो वह अनुग्रह कोई विशेष मूल्य नहीं रखता। आचार्य का पर्याप्त अनुग्रह न हो उससे खिन्न होकर गण में भेद डालने का यत्न करता है उसने

१—लिखित : १८५

२—लिखित : १८४५

साधना का मर्म नहीं समझा। गुटबन्दी का अर्थ है—साधना की अपरिपक्वता। आचार्य भिक्षु ने गुटबन्दी को साधना के लिए मर्मघाती आतंक कहा है।

: १६ : क्या माना जाय ?

साधु-समुदाय के लिए कुल, गण और संघ—ये तीन शब्द व्यवहृत होते हैं। कुल से गण और गण से संघ व्यापक है। एक आचार्य के शिष्य-समूह को कुल, दो आचार्यो के सहवर्ती शिष्य-समूह को गण और अनेक आचार्यो के सहवर्ती शिष्य-समूह को संघ कहा जाता है।

तेरापंथ साधु-समूह के लिये प्रायः गण शब्द का प्रयोग होता है। कुछ लोग साथ में रहते है—इतने मात्र से उनका गण नहीं होता। गण तब होता है जब वे एक व्यवस्था-सूत्र में आबद्ध होकर रहें। गण का मूल आधार व्यवस्था है। जिस व्यवस्था में जो रहे वह उस गण का सदस्य होता है और उस व्यवस्था से अलग होने पर वह उसका सदस्य नहीं होता। आचार्य भिक्षु ने कहा—"जो कोई साधु गण से अलग हो जाए, उसे साधु न माना जाए, चार तीर्थ में उसकी गिनती न की जाए। उसे वन्दना करना जिनाज्ञा के प्रतिकूल है।"[१]

चारित्र को निभाने की अक्षमता, स्वभाव की अयोग्यता, मन-भेद और मत-भेद आदि-आदि गण से पृथक् होने या करने के कारण हैं। जो मतभेद के कारण गण से अलग होते है, इनको लेकर यह तर्क आता है कि उन्हें साधु क्यो न माना जाय ? एक व्यक्ति २० वर्ष तक गण में रहे तब तक वह साधु और गण से अलग होते ही वह साधु नहीं—यह कैसे हो सकता है ? तर्क अकारण नहीं है। क्योंकि साधुत्व कोई लोह नहीं है, जो गणरूपी लोह-चुम्बक से चिपटा रहे और उसे छोड़ बाहर न जा सके। वह मुक्त-हृदय की उन्मुक्त साधना है। किन्तु आचार्य भिक्षु ने जो कहा वह भी तो अपेक्षा से मुक्त नहीं है। आगम का प्रत्येक वचन अपेक्षा से युक्त होता है तब आचार्य भिक्षु का वचन अपेक्षा से मुक्त कैसे होगा ? गण से पृथक् हुए साधु को साधु न माना जाए—यह यथार्थ-दृष्टिकोण है। जो साधु पहले तेरापंथ गण का साधु था, वह गण से पृथक् होने के पश्चात् उस गण का कैसे रह सकेगा ? जो गण में हो, वे भी गण के साधु और जो गण से पृथक् हो जायँ, वे भी गण के साधु माने जायँ तो फिर गण में रहने या उससे पृथक् होने का अर्थ ही क्या हो ? गण का साधु वही है जो गण की व्यवस्था का पालन करे। उसका पालन न करे, वह गण का साधु नहीं है। इसीलिये आचार्य भिक्षु ने लिखा है—"उसे चार तीर्थ में न गिना जाय।"

१—लिखित . १८३२

वह वास्तव में क्या है ? इस चर्चा में हम क्यों जाएँ ? दूसरे भी हमारे साधु हैं वैसे ही वह है। गण की व्यवस्था में जिसे बिठाया है, वह उसे गण का साधु न माने इस मर्यादा का आशय यही है।

२० : दोष-परिमार्जन

जो चलता है वह स्खलित भी हो जाता है। स्खलित होना बड़ी बात नहीं है बड़ी बात है—संभलना। व्यवस्था इसलिए होती है कि व्यक्ति चले और स्खलित न हो। अकेला व्यक्ति चलता है या स्खलित होता है उसका उत्तरदायी वह स्वयं होता है। समुदाय में कोई चलता है या स्खलित होता है उसका उत्तरदायित्व समुदाय पर होता है। साधना के क्षेत्र में व्यक्ति समुदाय में रहते हुए भी अकेला होता है इसलिए उसका दायित्व भी स्वयं पर अधिक होता है किन्तु समुदाय में रहने वाला अकेला ही नहीं होता इसलिए उसका दायित्व समुदाय पर भी होता है। समुदाय में कोई दोष-सेवन करे उसे कोई दूसरा देखे उस समय देखने वाले का क्या कर्तव्य है यह विमर्श-योग्य विषय है।

एक बार भाई किशोरलाल घनश्यामदास मशरूवाला से पूछा गया—"गांधीजी की आपको सबसे बड़ी देन क्या है ?" इसका जवाब भाई मशरूवाला ने इस प्रकार दिया

"गांधीजी हमें कहते थे कि अगर किसी आदमी के खिलाफ तुम्हारे मन में कोई बात उठी हो तो उसके बारे में उसी आदमी के साथ बात कर लेनी चाहिए। हम हिन्दुस्तानियों में यह हिम्मत कम है। यदि हमें किसी व्यक्ति पर सन्देह हुआ या उसके प्रति असन्तोष हुआ तो उसकी शिकायत या निन्दा हम दूसरों के सामने करते हैं मगर खुद उसके सामने बात नहीं निकालते बल्कि कभी तो हम ऐसा भी दिखा देते हैं मानो उसके खिलाफ हमारे दिल में कुछ है ही नहीं। अपने दिल को छिपाकर बोलने की आदत हमने बना ली है। हमारा ऐसा भी ख्याल है कि यह आदत सभ्यता तहजीब की निशानी है या विवेक है। लेकिन वस्तुतः यह विवेक नहीं चरित्र की कमजोरी है।

इस पर टिप्पणी करते हुए वे कहते हैं

"गांधीजी की यह सलाह ईसु के एक उपदेश की याद दिलाती है। अपने एक उपदेश में ईसु ने अपने शिष्यों से कहा है 'तुम मन्दिर में पूजा करने जाओ और पूजा करते-करते तुम्हें याद आए कि तुम्हारे मन में किसी भाई के प्रति बुराई आई है तो अपनी पूजा अधूरी छोड़ कर पहले उसके पास जाओ, खुलासा करो और बाद में आकर अपनी पूजा पूरी करो। पूज्य बापू की इस सलाह पर चलने का मैंने प्रयत्न किया है। परिणाम बहुत अच्छे आए हैं। बात करने से

समय अपने जोश को रोक कर शान्त वाणी से बोलने का आत्म-संयम यदि मुझमें हो तो परिणाम और भी अच्छे आ सकते हैं। आत्म-संयम की कमी जोश पर काबू पाने में अड़चन पैदा करती है। फिर भी मेरा अनुभव ऐसा है कि जिसके विषय में आशंका उठी हो उसके साथ सीधी और साफ बात कर लेने में और उसके लिये अपने मन में सच्ची भावना प्रकट कर लेने से—यदि उस क्षण उसे बुरा लगे तो भी गलत फहमी, दम्भ और चुगल-खोरी फैलने नहीं पाती। 'क' की बात 'क' को ही कह देने से उसे दूसरों के सामने कहते फिरने की वृत्ति कमजोर हो जाती है।"

भाई मशरूवाला ने उपर्युक्त उद्गारों में महात्माजी के जिस जीवन-सूत्र की चर्चा की है, वह बहुत ही बहुमूल्य है।

आचार्य भिक्षु ने साधुओं और श्रावकों को यही शिक्षा दी थी। निन्दा और विषमवाद को मिटाने के लिए उन्होंने लिखा था—"कोई व्यक्ति किसी साधु-साध्वी में दोष देखे, तो तत्काल उसीको कह दे अथवा गुरु को कह दे, पर दूसरों को न कहे।"[१]

दो दृष्टिकोण होते हैं—एक सुधारने का और दूसरा अपमानित करने का। जिसने दोष किया हो उसे या गुरु को कहा जाए—यह सुधारने का दृष्टिकोण है। उन्हें न कह कर और-और लोगों को कहा जाए—यह किसी को अपमानित करने का दृष्टिकोण है। दूसरों को अपमानित कर स्वयं आगे आने की जो भावना है वह दोषपूर्ण पद्धति है। इससे एक-दूसरे को दोषी ठहरा कर गिराने की परिपाटी हो जाती है। जिस संस्था या समाज के सदस्यों में एक-दूसरे को ओछा दिखाने की भावना या प्रवृत्ति नहीं होती, केवल एक-दूसरे को शुद्ध रखने के लिए ही दोषी को उसके दोष की ओर ध्यान दिलाने की कर्त्तव्य-भावना होती है, उस संस्था या समाज के चरित्र, प्रेम और संगठन दृढ़तम होते हैं।

दोष थोपना भी पाप है, उसका प्रचार करना भी पाप है और उसकी उपेक्षा करना भी पाप है। सत्पुरुष का कर्तव्य यह है कि वह कोरी सन्देह-भावना से किसी को दोषी न ठहराए। दोष देखे तो उसे, या गुरु को जताए, और कहीं उसका प्रचार न करे।

इस विषय में दो महत्त्वपूर्ण बातें ये हैं—(१) दोष देखे तो तत्काल कह दे। तत्काल का अर्थ उसी समय नहीं है, किन्तु लम्बे समय तक दोष को छिपाये न रखे। (२) दोषों को इकट्ठा न करे।

१—लिखित : १८५०

आचार्य भिक्षु ने कहा है— 'बहुत दिनों के बाद कोई किसी में दोष बताए तो प्रायश्चित्त का भागी वही है, जो दोष बताता है। जिसने दोष किया हो उसे याद हो तो उसे प्रायश्चित्त करना ही चाहिए।[1]

बहुत दिनों के बाद जो दोष बताए उसकी बात कैसे मानी जाए? उसकी बात में सच्चाई हो तो मानी जाने परन्तु व्यवहार में उसका विश्वास नहीं होता।[2]

जो दोषों को इकट्ठा करता है, वह अन्यायवादी है।[3] जब आपस में प्रेम होता है तब तो उसके दोषों को छिपाता है और प्रेम टूटने पर दोषों की गठरी को खोल फैलाता है उस व्यक्ति का विश्वास कैसे हो? वह विपरीत बुद्धि है।

दोष बताने वाला ही दोषी नहीं है उसे सुनने वाला भी दोषी है। सुनने वालों का कर्तव्य क्या होना चाहिए? इसे भी आचार्य भिक्षु ने स्पष्ट किया है— "कोई गृहस्थ साधु-साध्वियों के स्वभाव या दोष के सम्बन्ध में कुछ बताए तो श्रोता उसे यह कहे कि मुझे क्यों कहते हो या तो उसी को कहो या गुरु को कहो जिससे प्रायश्चित्त देकर उसे शुद्ध कर। गुरु को नहीं कहोगे तो तुम भी दोष के भागी हो तुम में भी वक्रता है। मुझे कहने का अर्थ क्या होगा? यह कह कर उस झमेले से अलग हो जाएँ, उस पचायत में न फँसे।"[4] दोष के प्रकरण को लेकर आचार्य भिक्षु ने एक पूरा 'लिखित' किया। उसका सारांश इस प्रकार है—

(१) साधु परस्पर साथ में रहे उस स्थिति में किसी से कोई दोष हुआ हो तो उसे अवसर देख कर शीघ्र ही बता दे, पर दोषों का संग्रह न करे।

(२) जिसने दोष किया हो वह प्रायश्चित्त करे तो भी गुरु को बता दे।

(३) वह प्रायश्चित्त न करे तो दोष की पन्ने में लिख उससे स्वीकृत करा उसे

१—लिखित : १८५

२—क-आचार की चौपई : १५.८

वर्ष दिना रा दोष बतावे ते तो मानवा में किम आवे।
साच बठ तो केवल्य जाणे, छद्मस्थ प्रतीत न आवे॥

ख-लिखित : १८५

३—लिखित : १८५

४—आचार की चौपई : १५.९

हेत मांहि तो दोषण ढांके, हेत तूटां पछे नांहि ढांके।
तिणरी किम आवे परतीत, उण में जाण लेवो विपरीत॥

५—लिखित १८५

सौंप दे और कह दे कि इसका प्रायश्चित कर लेना। इसका प्रायश्चित न आए तो भी गुरु को कह देना। इसे टालना मत। जो तुमने नही कहा तो मुझे कहना होगा। मैं दोषो की दवा कर नहीं रखूँगा। जिस दोष के बारे में मुझे सन्देह है, उसे मैं सन्देह की भाषा में कहूँगा और जिसे नि सन्देह जानता हूँ, उसे असदिग्धरूप से कहूँगा। अब भी तुम सभल कर चलो।

(४) आवश्यकता हो तो उसी के सामने गृहस्थ को जताए।

(५) शेष-काल हो तो गृहस्थ को न कहे। जहाँ आचार्य हो वहाँ आ जाए।

(६) गुरु के समीप आकार अडगा खडा न करे।

(७) गुरु किसे सच्चा ठहराए और किसे झूठा ठहराए ? लक्षणो से किसी को सच्चा जाने और किसी को झूठा, परन्तु निश्चय कैसे हो सकता है ? आलोचना किये बिना वे प्रायश्चित कैसे दें ? उन्हे द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव देख कर न्याय तो करना ही है।

(८) किन्तु दोष बताने वाला सावधान रहे। वह दोषो का सग्रह न करे। जो बहुत दोषों को एकत्रित कर आएगा, वह झूठा प्रमाणित होगा। वास्तव मे क्या है वह तो सर्वज्ञ जाने, पर व्यवहार मे दोषी वह है, जो दोषो का सग्रह करता है।[१]

जिसके बारे में मन शकाओं से भरा हो, उससे सीधा सम्पर्क स्थापित कर ले—यह मन का समाधान पाने की महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया है। इसके अतिरिक्त ये सूत्र भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं हैं :

(१) किसी में कोई दोष देखो तो उसे एकान्त मे जताओ।

(२) गुरु या मुखिया को भी जतादो।

(३) उसे शुद्ध करने की दृष्टि से जताओ, द्वेषवश दोष मत बताओ।

(४) अवसर देख कर तत्काल जताओ।

(५) बहुत दिनो के बाद दोष मत बताओ।

(६) दोषों को इकट्ठा करके मत रखो।

(७) दोषों को छिपाओ मत।

(८) दोषों का प्रचार मत करो।

(९) दोष बताने में हिचक मत करो।

अहिंसक की अभय-वृत्ति पर विश्वास करते हुए आचार्य भिक्षु ने लिखा है—"गुरु, शिष्य अथवा गुरु-भाई—किसी में भी दोष देखे तो उसे जता दे। किसी से भी सकोच न करे। दोष की शुद्धि का प्रयत्न करे। जो शिष्य गुरु का दोष

१—लिखित १८४१

छिपाता है, गुरु के सम्मुख कहने में संकोच करता है, वह बहुत ही भ्रम में है, वह घर छोड़ कर खोटी हुआ है।"¹

२१ : विहार

तेरापंथ आचार्य-केन्द्रित संघ है। इसकी व्यवस्था में एक आचार्य होते हैं और शेष सब शिष्य। आचार्य संयम से अनुशासित होते हैं और शिष्य-वर्ग संयम और आचार्य के अनुशासन से अनुशासित होता है। अनुशासन की पृष्ठभूमि में सत्ता का बल नहीं है, किन्तु प्रेम और वात्सल्य है। शिष्यों का विनय और आचार्य का वात्सल्य—दोनों मिलकर अनुशासन को संचालित करते हैं। कुछ आधुनिक सुधारक हमारी प्रणाली को सामन्तशाही प्रणाली कहने में गर्व का अनुभव करते हैं। इसमें उनका दोष भी नहीं है। श्रद्धा का स्पर्श भी जो न कर सके उनके लिये सब जगह सामन्तशाही है। तर्क सदा संदेह की परिक्रमा करता है। श्रद्धा में समर्पण होता है। श्रद्धालु के लिये श्रद्धा सुधा होती है और श्रद्धेय के लिये विष। श्रद्धेय वही होता है जो उस विष को पचा सके। श्रद्धालु श्रद्धा करना जानता है पर वह कैसे टिके यह नहीं जानता। यह श्रद्धेय को जानना होता है कि वह कैसे टिके? यह श्रद्धा का ही चमत्कार है कि आचार्य आदेश देते जाते हैं और साधु-साध्वियाँ खड़े होकर उसे स्वीकार करते जाते हैं। माघ शुक्ला सप्तमी का दिन जो मर्यादा महोत्सव का दिन है, बड़ा कुतूहल का दिन होता है। उस दिन साधु-साध्वियों के विहार-क्षेत्र का निर्णय होता है। किस साधु-साध्वी को आगामी वर्ष कहाँ जाना है, कहाँ रहना है, कहाँ चतुर्मास बिताना है, यह प्रश्न तब तक उसके लिये भी प्रश्न होता है जब तक आचार्य उसके विहार-क्षेत्र की घोषणा नहीं करते हैं। सब दर्शक आनन्द विभोर हो जाते हैं जब आचार्य साधु-साध्वियों को विहार का आदेश देते हैं और वे सम्मान के साथ उसे स्वीकार करते हैं।

आचार्य भिक्षु ने अनुभव किया कि छोटे-छोटे गाँव खाली हैं और बड़े-बड़े गाँव साधुओं से भरे हैं। साधुओं की दृष्टि उपकार से हटकर सुविधा पर टिक रही है। उन्होंने व्यवस्था की—"सब साधु-साध्वियाँ विहार, शेष-काल या चतुर्मास भारमलजी (वर्तमान आचार्य) की आज्ञा से करें, आज्ञा के बिना नहीं करें।"²

१—आचार की चौपई : १५।३

गुरु चेला में गुरु मांहे मांहे दोष देखे तो देणो बताई।
त्यांसूं पिण करणो नहीं ढाको निसरो कहणो तुरत निकालो ॥

२—लिखित : १८५९

उन्होने बताया—"सुख-सुविधा वाले विहार-क्षेत्रो की ममता कर बहुत जीव चारित्र से भ्रष्ट हो जाते हैं।"[1] इसलिए "सरस आहार मिले वहाँ भी आज्ञा के बिना न रहे।"[2] कुछ साधु क्या करते है—"रूखे क्षेत्र मे उपकार होता है तो भी वहाँ नही रहते। अच्छे क्षेत्र में उपकार नहीं होता है तो भी पडे रहते हैं। ऐसा नहीं करना है। चतुर्मास अवसर हो तो किया जाय पर शेष-काल में तो रहना ही चाहिए। किसी के खान-पान सम्बन्धी लोलुपता की शका पडे, तो उसे बडे कहे वैसा करना चाहिए। दो साधु विहार करें, बडे-बडे सुख-सुविधाकारी क्षेत्रो मे लोलुपतावश घूमते रहें, आचार्य जहाँ रखे, वहाँ न रहे—इस प्रकार करना अनुचित है। जहाँ बहुत साथ रहे वहाँ दुख माने और दो में सुख माने—लोलुपतावश यह नहीं करना चाहिए।[3]"

ग्राम और नगर की जो समस्या आज है उसका अकन वे तभी कर चुके थे। गाँवो की अपेक्षा शहरो में आकर्षण-शक्ति अधिक होती है। पदार्थों की साज-सज्जा जितनी शहरों में होती है उतनी गाँवो में नहीं होती। धार्मिक उपकार जितना गाँवो में होता है उतना शहरों में नही होता। महात्मा गाधी ने भी गाँवो पर अपनी दृष्टि केन्द्रित की थी। राजनीतिक संस्थाएँ भी बार-बार ग्राम-सम्पर्क के लिए पद-यात्रा की व्यवस्था किया करती हैं।

आचार्य भिक्षु का ग्राम-विहार का सूत्र हमारे आचार्यों ने क्रियान्वित किया है। साधु-साध्वियो को विहार-क्षेत्र का जो पत्र सौंपा जाता है, उसमें चतुर्मास के लिए एक क्षेत्र निश्चित होता है और उसमे उसके आसपास के गाँवों के नाम भी लिखे होते हैं। उस क्षेत्र में चातुर्मास करने वाला साधु उसके समीपवर्ती गाँवों में जाता है, रहता है और कहाँ कितनी रात रहा, उसकी तालिका आचार्य से मिलने पर उन्हें निवेदित करता है। आचार्य भिक्षु ने गाँवों में विहार करने की ओर गण का ध्यान खींचकर साधु-सघ पर बहुत उपकार किया है।

विहार के सम्बन्ध मे उन्होने दूसरी बात यह कही—"आचार्य की आज्ञा या विशेष स्थिति के बिना साधु-साध्वियाँ एक क्षेत्र में विहार न करें।"[4] "जिस गाँव में पहले साध्वियाँ हो वहाँ साधु न जाएँ और जहाँ साधु हो वहाँ साध्वियाँ न जाएँ। पहले पता न हो और वहाँ चले जाएँ तो एक रात से अधिक न रहें। कारणवश रहना पडे तो भिक्षा के घरों को बाँट लें।"[5]

१—लिखित १८५९
२—लिखित १८५०
३—लिखित १८५०
४—लिखित १८५०
५—लिखित १८५०,१८५२

छिपाता है, गुरु के सम्मुख कहने में संकोच करता है, वह बहुत ही भ्रम में है। वह घर छोड़ कर खोटी हुआ है।[1]

२१ : विहार

तेरापंथ आचार्य-केन्द्रित गण है। इसके सदस्यों में एक आचार्य होते हैं और शेष सब शिष्य। आचार्य संयम से अनुशासित होते हैं और शिष्य-वर्ग संयम और आचार्य के अनुशासन से अनुशासित होता है। अनुशासन की पृष्ठभूमि में सत्ता का बल नहीं है किन्तु प्रेम और वात्सल्य है। शिष्यों का विनय और आचार्य का वात्सल्य—दोनों मिलकर अनुशासन को संचालित करते हैं। कुछ आधुनिक सुधारक हमारी प्रणाली को सामन्तशाही प्रणाली कहने में गर्व का अनुभव करते हैं। इसमें उनका दोष भी नहीं है। श्रद्धा का स्पर्श भी जो न कर सके उनके लिये सब जगह सामन्तशाही है। तर्क सदा संग्रह की परिक्रमा करता है। श्रद्धा में समर्पण होता है। श्रद्धालु के लिये श्रद्धा सुधा होती है और अश्रद्ध के लिये विष। अश्रद्ध वही होता है जो उस विष को पचा सके। श्रद्धालु श्रद्धा करना जानता है पर वह कैसे टिके यह नहीं जानता। वह अश्रद्ध को जानना होता है कि वह कैसे टिके? यह श्रद्धा का ही चमत्कार है कि आचार्य आदेश देते जाते हैं और साधु-साध्वियाँ खड़े होकर उसे स्वीकार करते जाते हैं। माघ शुक्ला सप्तमी का दिन जो मर्यादा महोत्सव का दिन है बड़ा कुतूहल का दिन होता है। उस दिन साधु-साध्वियों के विहार-क्षेत्र का निर्णय होता है। किस साधु-साध्वी को आगामी वर्ष कहाँ जाना है, कहाँ रहना है, कहाँ चतुर्मास बिताना है यह प्रश्न तब तक उसके लिये भी प्रश्न होता है जब तक आचार्य उसके विहार-क्षेत्र की घोषणा नहीं करते हैं। तब दर्शक आनन्द विभोर हो जाते हैं जब आचार्य साधु-साध्वियों को विहार का आदेश देते हैं और वे सम्मान के साथ उसे स्वीकार करते हैं।

आचार्य भिक्षु ने अनुभव किया कि छोटे-छोटे गाँव खाली हैं और बड़े-बड़े गाँव साधुओं से भरे हैं। साधुओं की दृष्टि उपकार से हटकर सुविधा पर टिक रही है। उन्होंने व्यवस्था की—'सब साधु-साध्वियाँ विहार, शेष-काल या चतुर्मास भारमलजी (वर्तमान आचार्य) की आज्ञा से करें, आज्ञा के बिना नहीं करें।

१—आचार की चौपई : १५.२

गुरु आगला में गुर माहे मांह, दोष देखे तो देणो बताई।
त्यांसूं छिप करणो नहीं राखो छिपरी आवणो दुरख निकालो ॥

२—लिखित : १८५९

अध्याय ७

अनुभूतियों के महान् स्रोत

आचार्य भिक्षु चिन्तन के सतत प्रवहमान स्रोत थे। उनमें अनेक धाराएँ प्रस्फुटित हुई हैं। हम किसी एक धारा को पकड़ कर उसके स्रोत को सीमित नहीं बना सकते। उनके एक में सब और सब में एक है। अनुभूति की धारा में वे सब धाराएँ निकली हैं और सब धाराओं में अनुभूति का उत्कर्ष है। उनकी अनुभूति में शाश्वत सत्यों और युग के भूत, भावी और वर्तमान के तथ्यों का प्रतिबिम्ब है।

१ · कथनी और, करनी और

कथनी और करनी का भेद जो होता है, यह नई समस्या नहीं है। यह मानव-स्वभाव की दुर्बलता है, जो सदा से चली आ रही है। इस ध्रुव-सत्य को आचार्यवर ने इन शब्दों में गाया है

जो स्वयं आचरण नहीं करते,
अज्ञानी बने हुए चिल्लपों मारते हैं,
वे गायों के समूह में,
गधे की भाँति रेंकते हैं।

२ · भेख का भुलावा

जीवन के बनने बिगड़ने में तीन वर्गों का प्रमुख हाथ होता है—माता-पिता, मित्र और गुरु। इनमें सर्वोपरि प्रभावशाली व्यक्ति गुरु होते हैं। गुरु कलाचार्य को भी कहा जाता है और धर्माचार्य को भी। गुरु का भावात्मक अर्थ है, शिक्षा का स्रोत। वह पवित्र होता है, व्यक्ति को पावन प्रेरणाएँ मिलती हैं। वह अपवित्र होता है, व्यक्ति को अपवित्र प्रेरणाएँ मिलती हैं। जो धर्म-गुरु का भेष पहने हुए होता है और कर्तव्य में कुगुरु होता है उनके सम्पर्क-जनित परिणामों को इन शब्दों में गूँथा है—

कुएँ पर जाजिम बिछी है
चारों कोनों पर भार रखा हुआ है

इस व्यवस्था के अनुसार जहाँ आचार्य हो अथवा उनकी आज्ञा हो वहाँ एक गाँव में साधु-साध्वियाँ दोनों रहते हैं। उसके सिवाय एक गाँव में नहीं रहते।

आचार्य भिक्षु ने संघ की व्यवस्था में भगवान् महावीर के आठ सूत्रों को क्रियान्वित किया। भगवान् ने कहा था—इन आठ स्थानों में भली भाँति सावधान रहो प्रयत्न करो प्रमाद मत करो। वे ये हैं—

(१) अश्रुत धर्मों को सुनने के लिए प्रयत्नशील रहो।

(२) श्रुत धर्मों का ग्रहण व निश्चय करने के लिए प्रयत्नशील रहो।

(३) संयम के द्वारा पाप-कर्म न करने के लिए प्रयत्नशील रहो।

(४) तपस्या के द्वारा पुराने पाप-कर्मों को नष्ट करने के लिए प्रयत्नशील रहो।

(५) असंगृहीत शिष्य-वर्ग को आश्रय देने के लिए प्रयत्नशील रहो।

(६) नव-दीक्षित साधु को आचार-गोचर सिखाने के लिए प्रयत्नशील रहो।

(७) ग्लान की अग्लान भाव से सेवा करने के लिए प्रयत्नशील रहो।

(८) साधर्मिकों में कोई कलह उत्पन्न होने पर आहार और शिष्य-कुल के प्रलोभन से दूर पक्षपात से दूर तटस्थ रह कर चिन्तन के लिए कि मेरे साधर्मिक कलह-मुक्त कैसे हों प्रयत्नशील रहो। उस कलह को उपशान्त करने के लिए प्रयत्नशील रहो।

★

यह जीव सब जीवों का गुरु बन चुका है
यह जीव सब जीवों का शिष्य बन चुका है
पर सम्यक्-श्रद्धा के बिना भ्रान्ति नहीं मिटी
बीज के बिना हल चलता है
पर खेत खाली रह जाता है
वैसे ही शून्य चित्त से चलने वाला परमार्थ को नहीं पाता[1]

जो परमार्थ को नहीं पाता वह प्रतिबिम्ब को पकड़ बैठ जाता है। उसे सुख नहीं मिलता।

कांसे कुंड जल से भरे है
उनमें चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब है
मूर्ख सोचता है चन्द्रमा को पकड़ लू
परन्तु चन्द्रमा आकाश मे रहता है
प्रतिबिम्ब को चन्द्रमा मानता है
वह बुद्धि से विकल है।
वैसे ही बाह्याचार को जो मुख्य मानता है
वह अज्ञान तिमिर मे डूबा हुआ है।[2]

१—मिथ्य री चौपई : ४ १२
कोइ सर्वे सजावें करसा खेत मां रे,
कई प्रकार मोल मंगाइ हेत रे।
सर्वे मिल परमार्थ पायो नहीं रे
ए बीज बिन रहि गयो खाली खेत रे॥
२—वही : ४ २३ २४
कुंडा भरीया जल सूं कांसी तणा रे,
चन्द्रमा रो झलके छै प्रतिबिंब रे।
मूर्ख जाणे गिरस्यां चन्द्रमा रे,
विण ते तो आकाशें अंतर लंब रे॥
प्रतिबिंब ने रे कोइ माने चंद्रमा रे,
ते तो कहिये विकल समान रे।
ज्यूं गुण बिन सरधे साधु भेष ने रे
ते जाता मिथ्याती पूर अजाण रे॥

वैराग्य घटा है, भेष बढ़ा है
हाथी का भार गधों पर लदा हुआ है
गधे थक गए, बोझ नीचे डाल दिया
इस काल में ऐसे भेखधारी है ।[1]

उनका भगवान् महावीर के प्रति आत्म-निवेदन भी बड़ा मार्मिक है—

भगवन् ! आज यहाँ कोई सर्वज्ञ नहीं है
और श्रुतकेवली भी विच्छिन्न हो चुके
आज कुबुद्धि कदाग्रहियों ने
जैन-धर्म को बाँट दिया है
छोड़ चुके हैं जैन-धर्म को
राजा, महाराजा सब
प्रभो ! जैन-धर्म आज विपदा में है
केवल ज्ञान-शून्य भेख बढ़ रहा है
इन नामधारी साधुओं ने
पेट पूर्ति के लिये
दूसरे दर्शनों की शरण ले ली है
इन्हें कैसे फिर मार्ग पर लाया जाए
इनकी विचार धारा का
कोई सिर-पैर नहीं है
इन्हें न्याय की बात कहने पर
ये कलह करने को तैयार हो जाते हैं
प्रभो ! तुमने कहा है
सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप ।
मुक्ति के मार्ग यही हैं ।
मैं इनके सिवाय किसी को
मुक्ति-मार्ग नहीं मानता
मैं अरिहंत को देव
और मानता हूँ गुरु निर्ग्रन्थ को ही
धर्म वही है सत्य सनातन

1—आचार की चौपई ६.२८
वैराग घट्यो ने भेष वधियो, हाथ्यांरो भार गधा लदियो ।
थक गया बोज दियो रालो, एहवा भेषधारी पांचमें कालो ॥

जो कि अहिंसा कहा गया है
शेष सब मेरे लिए भ्रम-जाल है
मैं प्रभो ! तुम्हारा शरणार्थी हूँ
मैं मानता हूँ प्रमाण तुम्हारी आज्ञा को
तुम्हीं हो आधार मेरे तो
तुम्हारी आज्ञा में मुझे परम आनन्द मिलता है[1]

७ आकाश कैसे संधे ?

वे पवित्रता के अनन्य भक्त थे। उनका अभिमत था कि संघ पवित्र हो। जहाँ मुखिया अपवित्र हो जाता है वहाँ बड़ी कठिनाई होती है—

आकाश फट जाय।
उसे कौन सांधे ?
गुरु शिथिल गण बिगड़ जाए।
उस संघ के छेदों को कौन रोके ?

८ क्रोध का आवेग

क्रोध के आवेश से परिपूर्ण मनोदशा में एक विचित्र प्रकार की उछल-कूद होती है। उसका वर्णन इन शब्दों में है—

क्रोध कर वे उछलने लग जाते हैं
इस प्रकार उछलते हैं
जैसे भाड़ में से चने उछलते हों[3]

९ विनीत-अविनीत

विनीत और अविनीत की अनेक परिभाषाएँ हैं। आचार्य भिक्षु ने परिभाषाओं के अतिरिक्त उनका मनोवैज्ञानिक विश्लेषण भी किया है। उनके कुछेक तथ्य ये हैं—

१—वीर सुणो मोरी वीनती की ढाल
२—आचार की चौपई : १ दू. ४
आभे फाटे थीगड़ी कुण [illegible] देणहार।
ज्यूं गुरु फटीयो बिगड़ीयो त्यारे किंहु विध परिया वधार॥
३—वही : २१३
जो करतां री करणा कर्यां आयाँ तो क्रोध कर्यां उछलता जायँ।
जाणें भाड़ मा सूं चिणा उछलीया [illegible] गुरु मास्त्र [illegible]॥

"एक साधु विनीत है और दूसरा अविनीत। विनीत अच्छा गाता है और जो अविनीत है वह गाना नहीं जानता। गाने वाले की लोग सराहना करते हैं तब वह मन में जलता है और लोगों को कहता है—

वह गा-गा कर जनता को प्रसन्न करता है और मैं तत्त्व सिखाता हूँ।[1]

वह गुरु का गुणानुवाद सुनकर भी प्रसन्न नहीं होता। गुरु का अवगुण सुनता है तो वह खिल उठता है।[2]

वह गुरु की बराबरी करता है। सड़ा हुआ पान जैसे दूसरे पानों को बिगाड़ देता है, वैसे ही अविनीत व्यक्ति दूसरों में सड़ान पैदा कर देता है।[3]

अविनीत को जब गण में रहने की आशा नहीं होती, तब वह डकौत की भाँति बोलता है। डकौत जैसे गर्भवती स्त्री को कहता है—तुम्हारे सुन्दर बेटा होगा और पड़ोसिन को कह जाता है—इसके बेटी होगी और वह भी अत्यन्त कुरूप। इसी प्रकार गुरु के भक्त-शिष्यों के सामने वह गुरु की प्रशंसा करता है

१—विनीत अविनीत १२०,२३

कोइ उपगारी कठ कला धर साधु री रे,
प्रशंसा जश कीरति बोलैं लोग रे।
अविनीत अभिमांनी सुण सुण परजलैं,
उणरैं हरष घटैं नैं वधैं सोग रे॥
जो कठ कला न हुवे अविनीत री रे,
तो लोकां आगैं बोलैं विपरीत रे।
यां गाय गाय रीझाया लोक नैं रे,
कहे हूं तत्व ओलखाउ रूडी रीत रे॥

२—वही १२५

ओ गुर रा पिण गुण सुण नें विलखो हुवे रे,
ओ गुण सुणे तो हरषत थाय रे।
एहवा अभिमांनी अविनीत तेहनें रे,
ओलखाऊ भव जीवा ने इण न्याय रे॥

३—वही १२८

वले करैं अभिमांनी गुर सूं बरोवरी रे,
तिणरे प्रबल अविनों नें अभिमांन रे।
ओ जद तद टोळा में आछो नहीं रे,
ज्यूं बिगड्यो बिगाड़े सड़ियो पांन रे॥

जो कि अहिंसा कहा गया है
संघ सब मेरे लिए प्राण-श्वास है
मैं प्रभो ! तुम्हारा शरणार्थी हूँ
मैं मानता हूँ प्रमाण तुम्हारी आज्ञा को
तुम्ही हो आधार मेरे तो
तुम्हारी आज्ञा मे मुझे परम आनन्द मिलता है[1]

७ आकाश कैसे सधे ?

वे पवित्रता के अनन्य भक्त थे। उनका अभिमत था कि सब पवित्र हों। जहाँ मुखिया अपवित्र हो जाता है वहाँ बड़ी कठिनाई होती है—

आकाश फट जाये।
उसे कौन साधे ?
गुरु सहित गण बिगड़ जाए।
उस संघ के छेदों को कौन रोके ?

८ क्रोध का आवेग

क्रोध के आवेश से परिपूर्ण मनोदशा मे एक विचित्र प्रकार की उथल-पुथल होती है। उसका वर्णन इन शब्दों में है—

क्रोध भर मे लड़ने लग जाते है
इस प्रकार उछलते है
जैसे भाड़ मे से चने उछलते हो[3]

९ विनीत-अविनीत

विनीत और अविनीत की अनेक परिभाषाएँ है। आचार्य भिक्षु ने परिभाषाओं के अतिरिक्त उनका मनोवैज्ञानिक विश्लेषण भी किया है। उसके कुछेक तथ्य ये है—

१—वीर सुणो मोरी वीनती की ढाल
२—आचार री चौपई : ९ ६ ४

जामे फाटे कीयो कुण [illegible] देवणहार।
गण गुरु सहीत बिगड़ीयो त्यांरे छिद्रं किस परिया थकार॥

३—वही : ११ २

जो वाला री चरचा करें वा अमें तो क्रोध करे कायना थावें।
जाने भाड मा सू चिणा उछलीया ज्यों जोगे गुरु माडा मिलीया॥

बैलों के पास जा पहुँचा। वह बोला—देखो! मेरी बात मानो तो तुम इस भार ढोने के कष्ट से मुक्त हो सकते हो।

दो बैलो मे एक मामा था और दूसरा भानजा। मामा-बैल को उसकी बात रुची। किन्तु भानजे ने फटकार बतलाते हुये कहा—हम भार ढोते है वह तुम देखते हो, पर हमारा स्वामी हमारी कितनी सेवा करता है, वह नही देखते। गधा बोला—आखिर हो तो परतत्र ही न। भानजे ने कहा—हम स्वतन्त्र होकर कर ही क्या सकते है? भानजे के समझाने के बाद भी मामा गधे के जाल में फँस गया। गाडी चली और मामा ने कुबुद्धि का प्रयोग शुरू किया। वह चलते-चलते गिर पडा, उठाया और फिर गिर पडा। जोर-जोर से साँस लेने लगा। गाडीवान् ने सोचा—बैल मरने वाला है। उसने उसे मार गाडी में डाल दिया। अब एक बैल से गाडी कैसे चले। आस-पास गधा घूम रहा था, उसे पकड गाडी में जोत दिया। वे दोनों दुःखी हुए—बैल मारा गया और गधे को जुतना पडा। उसी प्रकार कुबुद्धि सिखाने वाला और सीखने वाला दोनों दुःखी होते है।[1]

१० : गिरगिट के रंग

व्यक्तित्व की पहली कसौटी है सहिष्णुता। इसे पाये बिना कोई भी व्यक्ति मन का सतुलन नहीं रख पाता। जो परिस्थिति के बहाव में ही बहता है, थोडे में प्रसन्न और थोडे में अप्रसन्न हो जाता है, उसका अपना कोई व्यक्तित्व नहीं होता। एक संस्कृत कवि ने कहा है—

जो क्षण में रुष्ट और क्षण में तुष्ट होता है, क्षण में तुष्ट और क्षण में रुष्ट होता है, इस प्रकार जिसका चित्त अनवस्थित है, उसकी प्रसन्नता भी डराने वाली होती है।[2] आचार्य भिक्षु ने ऐसे मनोभाव की तुलना सोरे से की है—

१—विनीत-अविनीत : २ १३-१५

> छुटक्लौ गधेडे दुराचरी, तिण कीधीं घणी खोटाई रे।
> आप छांदे रह्यो उजाड में, एक बलद नें कुबद सीखाई रे॥
> तिण अविनीत बलद नें तुरकियां, मार गाडा में घाल्यो रे।
> छुटकलां नें आंण जोतरयो, हिवें जाये उतावल सूं चाल्यो रे॥
> ज्यूं अविनीत नें अविनीत मिल्यां, अविनीतपणो सिखावे रे।
> पछें छुटकलां नें बलद ज्यूं, दोनूं जणा दुख पावे रे॥

२—क्षणे रुष्ट क्षणे तुष्ट, रुष्ट तुष्ट क्षणे क्षणे।
अनवस्थितचित्तानां, प्रसादोऽपि भयंकर॥

और जिसे अपने अधीन हुआ जानता है उसके सामने गुरु की निन्दा करता है।

जो दूसरे की विशेषता को अपनी विशेषता की ओट में छिपाने का प्रयत्न करता है और जो गुण सुनकर अप्रसन्न और निंदा सुनकर प्रसन्न होता है, वह व्यक्ति विशेष को महत्त्व देता है गुण को नहीं। जो गुण की पूजा करना नहीं जानता वह बहुत पढ़कर भी सामर कुछ भी नहीं जानता। इसलिए उसे अविनीत ही नहीं अज्ञानी भी कहा जा सकता है। जो बड़ों का सम्मान नहीं करता और दूसरों को उभार कर विद्रोह-पूर्ण भावना फैलाने में ही रस लेता है उसे क्या पता कि साधना में क्या रस होता है? वह अविनीत ही नहीं नीरस भी है। उसने साधना का स्वाद चखा ही नहीं।

जो मुख के सामने कुछ और कहता है।
तथा पीठ पीछे कुछ और

वह विष का भरा है ऊपर अमृत का बना हुआ है
वह अविनीत ही क्या है, धोखा-बाजता विश्वासघात है
अविनीत को अविनीत का संयोग मिलता है
तब वह वैसे ही प्रसन्न होता है
जैसे डायन मरघट को पाकर प्रसन्न होती है।

अविनीत अपने सम्पर्क से विनीत को भी अविनीत बना देता है। जैसे—

एक व्यक्ति ने अपने बेटे का विवाह किया। दहेज में ससुराल वालों ने गधे दिये। उनमें एक गधा अविनीत था। वह बस-भार को गिरा छोड़ देता। उससे हैरान होकर उसे छोड़ दिया। वह जंगल में स्वतंत्र रहने लगा। एक दिन वहाँ एक गाड़ीवान् आया। वृक्ष की छाँह में विश्राम के लिए उतरा। बैलों को एक पेड़ से बाँध दिया और स्वयं रसोई पकाने लगा। गधा घूमता फिरता उस

---

१ विनीत अविनीत। २ दू. १

गुर अथवा भावक आवच वळे,
गुर रा गुण बोलै ताम।
बार रे वच हुवो जावै तिण वळै
औगुण बोलै तिण ठाम॥

—वही। ५।२८

अविनीत नें अविनीत भावक मिले ए,
ते पामें घणो मन हरख।
ज्यूं डाकण राजी हुवे ए
मरघट नें मिलियां सरख॥

परन्तु अविनीत को उपदेश
देने का कोई फल नहीं होता ।[1]

: ११ : गुरु का प्रतिबिम्ब

एक व्यक्ति को विनीत शिक्षक मिलता है और दूसरे को शिक्षक मिलता है अविनीत। एक जो विनीत के पास सीखा और दूसरा अविनीत के पास, उन दोनों में कितना अन्तर है ? यह प्रश्न उपस्थित कर आचार्य ने स्वयं इसका समाधान किया है—

एक ने विनीत से बोध पाया
और एक ने पाया अविनीत से
उनमें उतना ही अन्तर है
जितना धूप और छाँह में ।[2]
जो विनीत के द्वारा प्रतिबुद्ध है
वह चावल-दाल की भाँति सबसे घुल-मिल जाता है ।
जो अविनीत के द्वारा प्रतिबुद्ध है ।
वह 'कावर' की भाँति अलग ही रहता है ।[3]

१—विनीत-अविनीत . ३ २९-३०

कांदा ने सो वार पांणी सू धोविया,
तो ही न मिटें तिणरी वास हो
ज्यू अविनीत ने गुर उपदेश दीयें घणो,
पिण मूल न लागें पास हो ॥
कादा री तो वास जोयां सुधरी पड़ें,
निरफल छै अविनीत नें उपदेश हो ।
जो छोडवे तो अविनीत अवलो पडे घणो,
उणरे दिन दिन इधक कलेश हो ॥

२—वही ५ १५

समझाया विनीत अविनीत रा ए,
त्यांमें फेर कितोयक होय ।
ज्यं तावडो नें छांहडी ए,
इतरो अन्तर जोय ॥

३—वही ५ १४

विनीत तणा समझाविया ए,
साल दाल ज्यू भेला होय जाय ।
अविनीत रा समझाविया ए,
ते कोंकला ज्यूं वानी थाय ॥

१२ : उत्तरदायित्व की अवहेलना

आचार्य भिक्षु संघ-व्यवस्था के महान् प्रवर्तक थे। वे व्यवहार के क्षेत्र में पारस्परिक सहयोग को बहुत महत्त्व देते थे। जो व्यक्ति स्वार्थी होते हैं वे केवल लेना ही जानते हैं देना नहीं और जो सामुदायिक उत्तरदायित्व की अवहेलना करते हैं वे संघ की जड़ों को उखाड़ने जैसा प्रयत्न करते हैं। इसे एक कथा के द्वारा समझाया है—

किसी व्यक्ति ने चार ब्राह्मणों को एक गाय दी।
वे क्रमशः एक-एक दिन उसे दुहते हैं।
पर उसे चारा कोई नहीं खिलाता।
वे सोचते हैं एक दिन नहीं खिलाएँगे तो क्या ?
कल जिसे दूध लेना है वह स्वयं खिलाएगा।
उनकी स्वार्थ-वृत्ति का फल यह हुआ—
कि गाय मर गई।
अपयश हुआ तब लोगों ने उन्हें धिक्कारा।
दूध भी अब कहाँ से मिले उन्हें ?

इसी प्रकार जो संघ या आचार्य से बहुत लेना चाहते हैं परन्तु उनके प्रति अपना दायित्व नहीं निभाते वे स्वयं नष्ट होते हैं और संघ को भी विनाश की ओर धकेल देते हैं।[1]

1—विनीत-अविनीत : ४ ११ १५

किण ही गाय दीवी च्यार ब्राह्मणां भणी रे,
ते चारे चारे दूहे ताय रे।
तिणनें चारो न नीरे लोभी थकां रे,
म्हारे बारे न दूवें आ गाय रे॥
त्यारे मांहोमां लागी इसकी रे,
तिण सूं दुख दुखे मूई गाय रे।
ते फिट फिट हुआ ब्राह्मण लोक में रे,
ते दिष्टंत अविनीत नें ओलखाय रे।
गाय सारिखा आचारज मोटका रे,
दूध सारिखो दे ग्यान अमोल रे।
कुशिष्य मिल्या ते ब्राह्मण सारिखा रे,
ते ग्यान तो लेवें दिल खोल रे॥

जिस समाज, जाति और देश में निस्वार्थ भावी लोग होते है, उस समाज, जाति और देश का उत्कर्ष होता है और स्वार्थी लोग सगठन को अपकर्ष की ओर ले जाते है। स्वार्थी की दृष्टि स्वार्थ पर टिकती है, दायित्व उसकी ओट में छिप जाता है। स्वार्थ कोई बुरा ही नही है, परन्तु मघ के हितो को गोण बनाकर जो प्रमुख बन जाए, वैसा स्वार्थ अवश्य ही बुरा है। आचार्य भिक्षु ने इसी तथ्य को उक्त पक्तियो में अकित किया है।

१३ : चौधराई मे खींच-तान

आचार्य भिक्षु की अनुभूति की धारा कही तटो की सीमा में प्रवाहित हुई है तो कहीं उन्मुक्त। तटों के मध्य में बहने वाली धारा का सुखद-स्पर्श हम कर चुके है। अब उन्मुक्त धारा में भी कुछ डुबकियाँ लगा लें।

एक खरगोश के पीछे दो बाघ दौडे। वह भाग कर एक खोह मे घुस गया। वहाँ एक लोमडी बैठी थी। उसने पूछा—तू प्राणो को हथेली पर लिए कैसे दौड आया ?

बहन! जगल के सभी जानवर मिलकर मुझे चौधरी बानाना चाहते थे। मैं इस पचडे में पडना नहीं चाहता था। इसलिए बडी कठिनाई से उनके चगुल से निकल आया हूँ—खरगोश ने अपनी भयपूर्ण भावना को छिपाते हुए कहा।

लोमडी—भैया! चौधराई मे तो बडा स्वाद है।

खरगोश—बहन! यह पद तुम ले लो, मुझे तो नहीं चाहिए।

लोमडी का मन ललचाया और वह चौधराई का पद लेने खोह से बाहर निकली। वहाँ बाघ खडे ही थे। उन्होंने उसके दोनो कान पकड लिए। वह कानों को गँवाकर तुरत लौट आई।

खरगोश—अभी वापस क्यो चली आई ?

आहार पाणी आदि वीयावच्च तणी रे,
ए न करें सार सभाल रे॥
एहवा अविनीतां रे वस गुर पड्या रे,
त्यां पिण दुखे दुखे कियो काल रे।
ब्राह्मण तो फिट फिट हुवा घणां रे,
ते तों एकण भव मझार रे॥
तो गुर रा अविनीत रो कहिवो किसू रे,
तिणरो भव भव हुसी विगाड रे।

स्वामीजी—चौधराई में खींचतान बहुत है।[1]

यह सच है चौधराई में खींचतान बहुत है। पर उसकी मूल भित्ति नहीं है? प्रजातन्त्र के युग में यह और अधिक उभर जाती है। किन्तु लोग इससे बोध-पाठ लें। अपनी योग्यता को विकसित किये बिना चौधरी बनने का यत्न न करें।

११४ ताँबे पर चाँदी का झोल

एक साहूकार की दुकान में एक आदमी आया। उसने एक पैसे का गुड़ चाहा। सेठ ने पैसा ले उसे गुड़ दे दिया। उसने सोचा प्रारम्भ अच्छा हुआ है पहले पहल ताँबे का पैसा मिला।

दूसरे दिन वह एक चाँदी के रुपये को भुनाने के लिए आया। साहूकार ने वह ले लिया और उसको रेजगारी दे दी। साहूकार ने प्रारम्भ भी शुभ माना।

तीसरे दिन वह खोटा रुपया भुनाने को आया। साहूकार ने उसे लेकर देखा तो वह खोटा रुपया था—नीचे ताँबा और ऊपर चाँदी का झोल था। साहूकार ने रुपये को नीचे डालते हुए कहा—आज तो बहुत बुरा हुआ। सूर्योदय होते होते खोटे रुपये के दर्शन हुए हैं।

ग्राहक बोला—सेठजी! नाराज क्यों होते हैं? परसों मैं ताँबे का पैसा लाया था तब आप बहुत प्रसन्न हुए और उसको वन्दना की। कल मैं चाँदी का रुपया लाया था तब भी आप प्रसन्न हुए और उसको वन्दना की। आज मैं जो रुपया लाया हूँ उसमें ताँबा और चाँदी दोनों हैं। आज तो आपको अधिक प्रसन्न होना चाहिए, इसको दो बार वन्दना करनी चाहिए।

साहूकार ने मुस्कराते हुए कहा—मूर्ख! परसों तू पैसा लाया वह कोरे ताँबे का था इसलिए शुद्ध था। कल रुपया लाया वह कोरी चाँदी का था इसलिए वह भी खरा था। आज तू जो लाया है वह न कोरा ताँबा है और न कोरी चाँदी। यह तो धोखा है। नीचे ताँबा है और ऊपर चाँदी का पानी चढ़ाया हुआ है इसलिए यह खोटा है।

गृहस्थ पैसे के समान है। साधु रुपये के समान है। साधु का वेष धारण करने वाला उस खोटे रुपये के समान है जो न कोरा ताँबा है और न कोरी चाँदी है।

गृहस्थ मोक्ष की आराधना कर सकता है साधु मोक्ष की आराधना करता है पर केवल मात्र वेषधारी मोक्ष की आराधना नहीं कर सकता।[2]

१—भिक्खु-दृष्टान्त : २१८ पृष्ठ ११४-१५

२—वही : ११५ पृष्ठ ११६-१७

अपने रूप में सब वस्तुएँ शुद्ध होती है। अशुद्ध वह होती है, जिसका अपना रूप कुछ दूसरा हो और वह दीखे दूसरे रूप में। यह अन्तर और बाहर का भेद जनता को भुलावे में डालता है। इसीलिए मनुष्य को पारखी बनने की आवश्यकता हुई।

परीक्षा के लिए शरीर-बल अपेक्षित नहीं है। वह बुद्धि-बल से होती है। शरीर-बल जहाँ काम नहीं देता, वहाँ बुद्धि-बल सफल हो जाता है।

१५ : बुद्धि का बल

एक जाट ने ज्वार की खेती की। फसल पक गई थी। एक रात को चार चोर खेत में घुसे। ज्वार के भुट्टों को तोड़ चार गट्ठर बाँध लिए। इतने में जाट आ गया और उसने यह सारा करतब देख लिया। वह उनके पास आया और हँसते हुए पूछा—भाई साहब! आप किस जाति के होते हैं?

उनमें से एक ने कहा—मैं राजपूत हूँ। दूसरा—मैं साहूकार हूँ। तीसरा—मैं ब्राह्मण हूँ। चौथा—मैं जाट हूँ।

जाट ने राजपूत से कहा—आप मेरे स्वामी है, इसलिए कोई बात नहीं, जो लिया सो ठीक है। साहूकार ऋण देता है, इसलिए उसने लिया, वह भी ठीक है। ब्राह्मण ने लिया है उसे मैं दक्षिणा ही मान लूँगा, पर यह जाट किस न्याय से लेगा? चल, तुझे अपनी माँ से उलाहना दिलाऊँगा। उसका हाथ पकड़ ले गया और उसी की पगड़ी से कसकर उसे एक पेड़ के तने पर बाध दिया।

वह फिर आकर बोला—मेरी मा ने कहा है—राजपूत हमारा स्वामी है, साहूकार ऋण देता है सो ये लेते है वह न्याय है, पर ब्राह्मण किस न्याय से लेगा? वह तो दिये बिना लेता नहीं। चल मेरी मा के पास। वह उसे भी ले गया और उसी प्रकार दूसरे पेड़ के तने पर बाध आया। उन्हीं पैरों लौट आया और बोला—मेरी मा ने कहा है—राजपूत हमारा स्वामी है, वह ले सो न्याय है, पर साहूकार ने हमें कब ऋण दिया था? चल, मेरी मा तुझे बुलाती है। उसको भी हाथ पकड़ ले गया और उसी भाँति बाध आया। अब राजपूत की बारी थी। उसने आते ही कहा—ठाकुर साहब! जो स्वामी होते हैं, वे रक्षा करने को होते हैं या चोरी करने को? उसे भी ले गया और उसी भाँति बाध दिया। चारों को बाँध थाने में गया और चारों को गिरफ्तार करवा दिया।[1]

बुद्धि से काम लिया तब सफल हो गया। यदि वह शरीर-बल से काम लेता तो स्वयं पिट जाता और अनाज भी चला जाता।

१—भिक्खु-दृष्टान्त : १२७, पृष्ठ ५१

१६ विवेक शक्ति

परीक्षा-शक्ति नहीं होती तब तक सब समान होते हैं। सब समान हों किसी के प्रति राग-द्वेष न हो—यह अच्छा ही है पर ज्ञान की कमी के कारण सब समान हों—यह अच्छा नहीं है। आचार्य भिक्षु 'विवेक' को बहुत महत्त्व देते थे। अविवेकी के लिए कांच और रत्न समान होते हैं। जब विवेक जागता है तब कांच कांच हो जाता है रत्न रत्न।

दो भाई रत्नों का व्यापार करते थे। एक दिन बड़ा भाई अकस्मात् संसार से चल बसा। पीछे वह पत्नी और एक पुत्र को छोड़ गया। पुत्र अभी बच्चा ही था। थोड़े वर्ष बीते। लड़का भी कुछ बड़ा हो गया। एक दिन उसकी माँ ने कहा—बेटा जाओ! यह पोटली अपने चाचा के पास ले जाओ। रुपयों की जरूरत है इसलिए कह देना वे रत्न बेच दें।

लड़का दौड़ा। रत्नों की पोटली चाचा को सौंप दी और माँ ने जो कहा वह सुना दिया। चाचा ने उसे खोल देखा तो सारे रत्न नकली थे। उसने पोटली को बांध उसे उसी क्षण लौटा दिया और कहला भेजा कि—अभी रत्नों के भाव मंदे हैं जब तेज होंगे तब बेचेंगे। चाचा ने उस बच्चे को रत्नों की परख का काम सिखाना शुरू किया। थोड़े समय में ही वह इस कला में निपुण हो गया।

एक दिन चाचा ने उसके घर आकर कहा—बेटा! रत्नों के भाव तेज हैं वे रत्न बेचने हों तो अपनी माँ से कह दो।

वह पोटली लाई। उसने तत्परता से उसे खोला। देखते ही उन रत्नों को फेंक दिया। माँ देखती ही रही। उसके लिए वे रत्न थे किन्तु उसके पुत्र के लिए, जो रत्नों का पारखी बन चुका था अब वे रत्न नहीं रहे।[1]

१७ उछाला पत्थर तो गिरेगा ही

किसी ने पूछा—गुरुदेव! साधुओं को असुख क्यों होता है जब कि वे किसी को भी दुःख नहीं देते?

आचार्य भिक्षु ने कहा—जिसने पत्थर उछाल कर सिर नीचे किया है उसके सिर पर वह गिरेगा ही। आगे नहीं उछालेगा तो नहीं गिरेगा। पहले दुःख दिया है वह तो भुगतना ही है। अब दुःख नहीं देते हैं तो आगे दुःख नहीं पाएँगे।

१—अनुकम्पा ७।१९

काच तणा मणिया भोलां मन समझ्या हो जाणे रतन अमोल।
ते निजर पड्यां झवेरी री कर दीधो हो त्यांरो कोड्यां मोल॥

२—भिक्खु-दृष्टान्त १९१ पृष्ठ ५१

विवेक का अर्थ है—पृथक्करण। भलाई और बुराई दो हैं। विवेक उन्हें बाट देता है। कोई आदमी आज भला है, पर वह पूर्व-सचित बुराई का फल भोगता है। प्रश्न हो सकता है—यह क्यों? इसका उत्तर यही है कि विश्व की व्यवस्था में विवेक है।

कोई आदमी आज बुरा है पर वह पूर्व-सचित भलाई का फल भोगता है तब सन्देह होता है। उसके समाधान के लिए यह पर्याप्त है कि विश्व की व्यवस्था में विवेक है। उक्त सवाद में इसी ध्रुव-सत्य की व्याख्या है।

: १८ : राग-द्वेष

ध्रुव-सत्य को पकड़ने में सबसे बड़ी बाधा है राग-द्वेष पूर्ण मन स्थिति। आचार्य भिक्षु के अनुसार द्वेष की अपेक्षा राग अधिक बाधक है।

किसी आदमी ने बच्चे के मुँह पर एक चपत जमाया। लोगों ने उसे उलाहना दिया।

किसी आदमी ने बच्चे को लड्डु दिया। लोगों ने उसे सराहा। द्वेष पर दृष्टि सीधी जाती है, पर राग पर नही जाती। द्वेष की अपेक्षा राग को छोड़ना कठिन है। द्वेष मिटने पर भी राग रह जाता है। इसीलिए वीतराग कहा जाता है, वीतद्वेष नहीं।[१]

राग वस्तुओं का ही नहीं होता, विचारों का भी होता है। आचार्य हेमचन्द्र के अनुसार—काम-राग, स्नेह-राग को थोड़े प्रयत्न से मिटाया जा सकता है, पर दृष्टि-राग—विचारों के राग का उच्छेद करना बड़े-बड़े पुरुषो के लिए भी कठिन है। आचार्य भिक्षु को एक ऐसे ही रागी को कहना पड़ा—चर्चा चोर की भाँति मत करो।

एक आदमी चर्चा करने आया। एक प्रश्न पूछा। वह पूरा हुआ ही नही कि दूसरा प्रश्न छेड़ दिया। दूसरे को छोड़ तीसरे को हाथ डाला। तब आचार्य भिक्षु ने कहा—चोर की भाँति चर्चा मत करो।

खेत का स्वामी भुट्टों को श्रेणीबद्ध काटता है और चोर आ घुसे तो वे एक कहीं से काटते हैं और दूसरा कहीं से। तुम खेत के स्वामी की तरह क्रमश चलते चलो। एक-एक प्रश्न को पूरा करते जाओ। चोर की भाँति मत करो।[२]

१—भिक्खु-दृष्टान्त : ६, पृष्ठ ५
२—वही : १३२, पृष्ठ ५६

१६ : विराम

प्रारम्भ और विराम प्रत्येक वस्तु के दो पहलू हैं। मनुष्य की कोई कृति अनादि-अनन्त नहीं होती।

विश्व अनादि-अनन्त है। जिसका आदि न हो और अन्त भी न हो उसका मध्य कैसे हो?[1] मनुष्य की कृति की आदि भी होती है और अन्त भी होता है। इसलिए उसका मध्य भी होता है।

'भिक्षु विचार-दर्शन' यह एक मनुष्य की कृति है। इसके आदि में एक महापुरुष के जीवन का परिचय है और इसके अन्त में एक महापुरुष की सफलता की कहानी है तथा इसके मध्य में सफलता के साधन-सूत्रों का विस्तार है। आदि का महत्त्व होता है और अन्त का उससे भी अधिक पर ये दोनों संक्षिप्त होते हैं। लम्बाई चौड़ाई मध्य में होती है। सफलता जीवन में होती है पर मृत्यु सबसे बड़ी सफलता है। जिसकी मृत्यु उत्कर्ष में न हो, आनन्द की अनुभूति में न हो उसके मध्य-जीवन की सफलता विफलता में परिणत हो जाती है।

आचार्य भिक्षु का सूत्र था—ज्योतिहीन जीवन भी श्रेय नहीं है और ज्योतिहीन मृत्यु भी श्रेय नहीं है। ज्योतिर्मय जीवन भी श्रेय है और ज्योतिर्मय मृत्यु भी श्रेय है।

वीर-पत्नी विदुला ने अपने पुत्र से कहा—'बिछौने पर पड़े-पड़े सड़ने की अपेक्षा यदि तू एक क्षण भी अपने पराक्रम की ज्योति प्रकट करके मर जाएगा तो अच्छा होगा।

प्रमादपूर्ण जीवन और मृत्यु में क्या अन्तर है? आचार्य भिक्षु रात्रिकालीन प्रवचन कर रहे थे। बालोजी नाम का श्रावक सामने बैठा-बैठा नींद ले रहा था। आपने कहा—

"बालोजी! नींद लेते हो? बालोजी बोले—नहीं महाराज! और फिर नींद शुरू कर दी। आपने फिर कहा—बालोजी! नींद लेते हो? वही उत्तर मिला—नहीं महाराज! नींद में घूर्णित आदमी सच कब बोलता है? अनेक बार जगाने पर भी बालोजी ने नकारात्मक उत्तर दिया। नींद फिर गहरी हुई

१—(क)—नैवाग्रं नावरं यस्य तस्य मध्यं कुतो भवेत्। (माध्यमिक कारिका ११।२)

(ख) जस्स नत्थि पुरा पच्छा मज्झे तस्स कओ सिया। (आचारांग १।४।४)

(ग)—आदावन्ते च यन्नास्ति, वर्तमानेऽपि तत्तथा। ([illegible] ।२।६)

२—मुहूर्तं ज्वलितं श्रेयो न च धूमायितं चिरम्। (महाभारत [illegible])

और आपने कहा—आसोजी ! जीते हो ? उत्तर मिला नहीं महाराज !"[1] इस उत्तर में कितनी सचाई है। आदमी प्रमादपूर्ण जीवन जी कर भी कब जीता है ?

आचार्य भिक्षु अप्रमत्त जीवन जीते रहे और उनका मरण भी अप्रमत्त दशा में हुआ। मध्य-जीवन में भी वे अप्रमत्त रहे। इसीलिए उनका आदि, मध्य और अन्त—ये तीनों ही ज्योतिर्मय हैं।

यह मेरी कृति उनके कुछेक ज्योतिकणों से आलोकित है। उनके प्रकाश-पुञ्ज जीवन और ज्योतिर्मय विचारों को शब्दों के सदर्भ में रखना सहज-सरल नहीं है। मैंने ऐसा यत्न करने का सोचा ही नहीं। परम श्रद्धेय आचार्य श्री तुलसी की अन्त:प्रेरणा थी कि मैं महामना आचार्य भिक्षु के विचार-दर्शन पर कुछ लिखूं। उनके शुभाशीर्वाद का ही यह सुफल है कि मैं आचार्य भिक्षु के विचार-दर्शन की एक झाँकी प्रस्तुत कर सका और तेरापथ द्विशताब्दी के पुण्य अवसर पर उसके प्रवर्तक को मैं अपनी भावभीनी श्रद्धाञ्जलि अर्पित कर सका।

१—भिक्खु-दृष्टान्त : ४८, पृष्ठ २१

परिशिष्ट

टिप्पणियों में प्रयुक्त ग्रन्थ-सूची

१ अगुत्तर निकाय
२ अहिंसा
३ अहिंसा की शक्ति
४ आचाराङ्ग
५ आचार्य सन्त भीखणजी
६ आत्मकथा (भाग ४)
७ उत्तरपुराण
८ उत्तराध्ययन सूत्र (नेमिचन्द्रीय वृत्ति)
९ उपदेश-माला
१० एक सौ उनहत्तर बोल की हुण्डी
११ एक सौ एकासी बोल की हुण्डी
१२ ओघ निर्युक्ति वृत्ति
१३ गीता
१४ जम्बू कुमार चरित
१५ जिनाज्ञा रो चोढालिया
१६ जैन साहित्य और इतिहास
१७ जैन साहित्य सशोधन (खण्ड ३ अङ्क ४)
१८ तत्त्वार्थ सूत्र
१९ त्रिवर्णाचार
२० दर्शन सग्रह (डा० दीवानचन्द्र)
२१ दशवैकालिक
२२ धम्मपद
२३ धर्म रसिक
२४ धर्म सागर कृत पट्टावली
२५ धर्मोदय

२६ नन्दी सूत्र
२७ निशीथ सूत्र चूर्णि
२८ नीति शास्त्र
२९ भगवती सूत्र
३० भ्रमविध्वंसनम्
३१ भारतीय संस्कृति और अहिंसा
३२ भिक्षु दृष्टान्त
३३ भिक्षु ग्रन्थ रत्नाकर (प्रथम खण्ड)
अनुकम्पा
आचार री चौपई
जिन आज्ञा री चौपई
नव पदारथ
निह्नव चौपई
निह्नव रास
मिथ्यात्वी री करणी-निर्णय
व्रताव्रत
विनीत अविनीत री चौपई
श्रद्धा री चौपई (श्रद्धा निर्णय री चौपई)
श्रावक ना बारे व्रत री चौपई
३४ भिक्षु यश रसायण
३५ मर्यादा मुक्तावली
३६ मर्यादावली
३७ महाभारत
३८ माण्डूक्य कारिका
३९ माध्यमिक कारिका
४० मूलाचार
४१ यंग इण्डिया (भाग १)
४२ यजुर्वेद

४३ युक्ति प्रबोध
४४ राष्ट्रपिता
४५ लिखतः १८३२, १८४१, १८४५, १८५०, १८५२, १८५६, १८६६
४६ विनोबा के विचार
४७ विनोबा प्रवचन (मई १९५९)
४८ वीर सुनो मोरी विनती
४९ बृहत्कल्प चूर्णि
५० व्यापक धर्म भावना
५१ इनपदी
५२ शिव महिम्न स्तोत्र
५३ शिशु हित शिक्षा
५४ षट् प्राभृत मोक्ष प्राभृत टीका
५५ संबोध प्रकरण
५६ सर्वोदय का सिद्धान्त
५७ सांख्य तत्त्व
५८ सूक्ति मुक्तावली
५९ सूत्रकृताङ्ग
६० स्थानाङ्ग सूत्र
६१ स्थानाङ्ग सूत्र वृत्ति
६२ हिन्द स्वराज्य
६३ हिन्दी नवजीवन (२० सितम्बर, १९२८)
६४ हिन्दुस्तान (२६ जून, १९५९)

२६ नन्दी सूत्र
२७ निशीथ सूत्र चूर्णि
२८ नीति शास्त्र
२९ भगवती सूत्र
३० भ्रमविध्वंसनम्
३१ भारतीय संस्कृति और अहिंसा
३२ भिक्खु दृष्टान्त
३३ भिक्षु ग्रन्थ रत्नाकर (प्रथम खण्ड)
    अनुकम्पा
    आचार री चौपई
    जिन आज्ञा री चौपई
    नव पदारथ
    निह्नव चौपई
    निह्नव रास
    मिथ्यात्वी री करणी निर्णय
    व्रताव्रत
    विनीत अविनीत री चौपई
    श्रद्धा री चौपई (श्रद्धा निर्णय री चौपई)
    श्रावक ना बारे व्रत री चौपई
३४ भिक्षु जश रसायण
३५ मर्यादा मुक्तावली
३६ मर्यादावली
३७ महाभारत
३८ माण्डूक्य कारिका
३९ माध्यमिक कारिका
४० मूलाचार
४१ यत दर्शिका (भाग १ २)
४२ यजुर्वेद

प्रस्तुत ग्रन्थ पर सम्मतियाँ

लेखक ने श्री भीखणजी के गूढतम विचारों को नवीनतम ढंग से प्रस्तुत करने के प्रयास में निश्चित रूप से सफलता पाई है। यह ग्रन्थ जहाँ तक श्री भीखणजी के विचारों और सिद्धान्तों को सही रूप में समझने में सहायता देगा, वहाँ यह बौद्धिक लोगों की ज्ञान-पिपासा भी शान्त करेगा।

—सम्मेलन पत्रिका, प्रयाग

प्रस्तुत पुस्तक में श्वे० तेरापन्थ-सम्प्रदाय के संस्थापक आचार्य भिक्षु या भीखणजी के आचार-विचार एवं मान्यताओं की पृष्ठभूमि, उनके व्यक्तित्व का गठन, उनकी विचार-क्रान्ति किन परिस्थितियों में और किन कारणों से हुई, उनके द्वारा स्थापित आम्नाय की रूपरेखा आदि का सुन्दर विवेचन किया गया है। पुस्तक से इस सम्प्रदाय (तेरापन्थ) की पूर्वपीठिका एवं स्वरूप की अच्छी जानकारी प्राप्त होती है।

—जैन सन्देश (शोधांक), मथुरा

धर्म, अहिंसा, उसका व्यावहारिक पहलु, दर्शन, तत्त्वशील अतिचार, धर्म-शासन, अनुशासन, श्रद्धा आदि का जो विश्लेषण आचार्य ने जीवन भर किया, उसीका सुन्दर साहित्यिक रूप यह "भिक्षु-विचार दर्शन" है। तत्व चिन्तकों के लिए यह पुस्तक बड़ी उपयोगी है।

—राष्ट्र भारती, वर्धा

आचार्य भिक्षु के अनेक रूप रहे हैं। वे दार्शनिक थे, सहज कवि थे, स्पष्ट वक्ता थे, वे प्रत्युत्पन्न मति थे। पर उनके दो रूप बड़े ही स्पष्ट और प्रभावशाली हैं। विचार और चारित्र-शुद्धि के प्रवर्तक तथा कुशल संघ-व्यवस्थापक। निस्सन्देह 'भिक्षु विचार दर्शन' तेरापन्थ दर्शन है।

—दैनिक हिन्दुस्तान, नई दिल्ली

This is a commentary on the teachings of the saint Bheekhan (Bhikshu) who is founder of the Terapanth sect of Jainism He was known to be a very pious man and his words followed from his life which was essentially one of austerity and penance The commentator himself is a Jain muni of note and therefore he has succeeded in bringing out the teachings in then correct perspective This book will also prove to be of interest to students of religious literature.

NAGPUR TIMES (Shri Anant Gopal Shevade)

आज से २०० वर्ष पूर्व आचार्य भीखण का जन्म मारवाड़ में हुआ था। हरिभद्रसूरि के पूर्व से ही जैनों में शिथिलाचार का प्रारम्भ हो गया था। जिन कर्मकाण्डों का विरोध करने के लिए भगवान् महावीर ने अपना जीवन खपा दिया, वे ही जैन साधुओं और गृहस्थों में प्रविष्ट होते जा रहे थे। आचार्य भीखण ने उनकी खिलाफत की। उनमें कबीर-जैसी निर्भयता थी। उन्होंने दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों को फटकारा। वे सम्प्रदायों से ऊपर थे।

ऐसे साधु के जीवन का निष्पक्ष अध्ययन होना ही चाहिए था। मुनि नथमल ने खोज की, उनके विचारो को समझा और उनके द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों का मनन किया। **यह पुस्तक समूचे आचार्य भीखण को दर्पण की भाँति स्पष्ट करने में समर्थ है। ऐसा वह ही लेखक कर सकता है, जिसकी लेखनी मजी हो और समागत विचारो को सुचारु रूप से अभिव्यक्त करने का ढग जानता हो।**

इस ग्रन्थ में सात अध्याय हैं—व्यक्तित्व की झाकी, प्रतिध्वनि, साध्य-साधन के विविध पहलु, मोक्ष धर्म का विशुद्ध रूप, क्षीर-नीर, संघ-व्यवस्था, अनुभूतियों के महान् स्रोत। सभी अध्याय नवीनता से युक्त हैं। आचार्य भीखण अपने मौलिक विचारों को बिल्कुल नवीन दृष्टान्तों के सहारे स्पष्ट किया करते थे। उनके दृष्टान्त जीवन मे सकलित किये गये थे। अत पैने तर्क, पेचीद, सिद्धान्त भी जन-साधारण तक पहुँच जाते थे। मुनि नथमल ने समीक्षा करते

आचार्य भीखणजी आरम्भ से ही असाधारण व्यक्ति थे। जीवन के विषम वातावरण में पलकर उनकी प्रज्ञा इतनी परिपक्व हुई कि वे बहुत ऊँचे स्थान पर प्रतिष्ठित हो गये। यह पुस्तक वस्तुतः एक जीवनी ही नहीं है बल्कि तेरापन्थ के मूल विचार एवं विकास का विस्तृत विवेचन है।

—जीवन साहित्य, नई दिल्ली

यह पुस्तक समूचे आचार्य भीखण को दर्पण की भाँति स्पष्ट करने में समर्थ है। ऐसा वह ही लेखक कर सकता है जिसकी लेखनी मंजी हो और जो समागत विचारों को सुचारु रूप से अभिव्यक्त करने का ढंग जानता हो।

—अनेकान्त दिल्ली

भीखण मुनि के साधु-आचार के विषय में अपने विचार थे जिनको प्रस्तुत पुस्तक में विद्वान् लेखक ने उनके दर्शन के रूप में उपस्थित किया है। पुस्तक में भिक्षुजी की जीवनी तथा उनके विचार बड़ी विज्ञता के साथ सरल शैली में दिए गए हैं।

—साप्ताहिक हिन्दुस्तान, नई दिल्ली

प्रस्तुत ग्रन्थ में महर्षि भीखणजी के विचारों की पृष्ठभूमि और हार्द का संक्षिप्त पर अत्यन्त मार्मिक विश्लेषण है। मुनि श्री नथमलजी ने आचार्य श्री भीखणजी के व्यक्तित्व धर्म-क्रान्ति-साध्य-साधन सन्दर्भ में तेरापन्थ के उद्भव तथा विकास के कारणों का उनकी आवश्यकता का और उनकी सार्वजनीन उपयोगिता का जो विवेचन किया है उसमें वैज्ञानिक की तटस्थता है ही भक्त की तन्मयता और श्रद्धा-भावना भी पग-पग पर दृष्टिगोचर होती है। पढ़ते समय ऐसा लगता है कि उनकी कलम श्रद्धा की स्याही से पग भीगी रही है। ऐतिहासिक तथ्यों के प्रकाश में जहाँ वैज्ञानिक विश्लेषण करना होता है, वहाँ लेखक प्रायः निर्ममता और कठोरता की कोटि में चले जाते हैं। किन्तु मुनि जी की श्रद्धा साधना का परिणाम है कि वे सजग और जिज्ञासु साथ-साथ रहे हैं।

—जैन जगत्, वर्धा

भिक्षु-विचार दर्शन में आचार्य सन्त भीखणजी का जीवन और दर्शन बड़े पाण्डित्यपूर्ण ढग से चित्रित है। लेखक ने खूब अध्ययन किया है, परिश्रम से लिखा है।

—डा० रामचरण महेन्द्र, एम० ए०, पी-एच० डी०
प्राध्यापक, राजकीय महाविद्यालय, कोटा

मुनि श्री नथमल ने तेरापथ के प्रवर्तक आचार्य श्री भिक्षु के जीवन-दर्शन को सरल भाषा में प्रस्तुत करने का एक सराहनीय प्रयत्न किया है। × × × आचार्य भिक्षु के साधनामय जीवन एव सघर्षमय जीवन का सुन्दर चित्र देखकर पाठक बहुत प्रभावित होंगे तथा आचार्य की जीवनचर्या से परिचित हो सकेंगे। आदर्श-चरित्र पर इस प्रकार की कृतियों का हृदय से स्वागत होना चाहिए।

—डा० हरीश, एम० ए०, पी-एच डी०
महाराणा भूपाल कालेज, उदयपुर

आचार्य भिक्षु का जीवन-दर्शन अपनी सरलता, सुवाच्यता व गहराई के कारण मन में रमा। मुनि श्री नथमलजी ने जिस तत्परता, श्रम और विवेक पूर्वक उसे साधा है, वह अनुकरणीय है।

—आचार्य सर्वे
सार्वजनिक सम्पर्क कार्यालय, जयपुर

श्वेताम्बर तेरापन्थ के प्रवर्तक आचार्य भिक्षु का जीवन, व्यक्तित्व उनके विचारों का दिग्दर्शन तथा उनकी सघ-व्यवस्था का सुबोध कराने के लिये श्री मुनि नथमलजी ने पर्याप्त श्रम किया है। अनेक सुगम दृष्टान्तों के द्वारा दुर्ज्ञेय विषय को सरल और रोचक बनाने का प्रयत्न इसमें किया गया है। इस पुस्तक के पृष्ठों में आचार्य भिक्षु के प्रतिभाशाली व्यक्तित्व को हर-एक समझदार समझ सकता है।

—पं० पन्नालाल जैन शास्त्री
श्री भारतवर्षीय दिगम्बर जैन
विद्वत्परिषद्, सागर

हुए ठीक स्थान पर उन्हें चुन चुन कर रखा है। इससे आकर्षण में और भी वृद्धि हुई है।

ग्रन्थ की सबसे बड़ी विशेषता है—'शोधपरकता' और साधारण का समन्वय। साधारणता की बात कही जा चुकी है। 'शोधपरकता' मुनिश्री का जीवन है। आचार्य भीखण के विचारों की आगमिक सिद्धान्तों से तुलना समानता और असमानता का दिग्दर्शन कोई शोधी ही कर सकता है। आज-कल पाश्चात्य पद्धति के लिबास में माया को सजाकर किसी व्यक्ति के जीवन को अंकित करने का सस्ता ढंग चल पड़ा है। न जाने कितने 'व्यक्तित्व और कृतित्व' निकल रहे हैं। आज का हिन्दी-लेखक द्रुतगति से चल रहा है किन्तु उसके कदम ठोस नहीं है। वर्षों में सार युक्त पुस्तकें कम ही निकल पाती हैं। *यह उन्हीं में से एक है।*

जहाँ तक प्रकाशन का सम्बन्ध है। कलकत्ता की तेरापंथी सभा के सभी ग्रन्थ सुन्दर हैं। छपाई प्रूफरीडिंग शीर्षपृष्ठ आदि जैन समाज की अन्य संस्थाओं के लिए अनुकरणीय है।

—डा० प्रेमसागर जैन, एम० ए०, पी-एच० डी०
अध्यक्ष हिन्दी विभाग दिगम्बर जैन कालेज बड़ौत

मुनि श्री नथमलजी रचित यह ग्रन्थ जैन श्वेताम्बर तेरापंथी समाज के अध्ययन और मनन के लिए मुख्य रचना है। इसमें उक्त तेरापंथी समाज के आदि ऋषि भीखणजी के विचारों विवेचनों और वचनों का संग्रह है। यों सब समाज का दर्शन इस ग्रन्थ में प्रस्तुत किया गया है। अतः उक्त समाज के अनुयायियों के लिए तो यह बहुत ही महत्त्व का है। परन्तु जैन धर्म और समाज का इतिहास तथा अठारहवीं-उन्नीसवीं सदियों में उस वर्ग विशेष के जीवन तथा विचारों का अध्ययन करने वालों के लिए भी यह ग्रन्थ उपयोगी होगा। तत्कालीन जैन समाज की विचारधारा और जीवन पर इस ग्रन्थ से विशेष प्रकाश पड़ता है। यही नहीं अन्य धर्मावलम्बी साधकों को भी इस पुस्तक में बहुत-सी विचारोत्तेजक सामग्री तथा प्रेरणा पढ़ने को मिलेंगे।

—महाराजकुमार डा० रघुवीर सिंह
सीतामऊ। एम ए एल-एल० बी० डी० लिट

भिक्षु-विचार दर्शन में आचार्य सन्त भीखणजी का जीवन और दर्शन बड़े पाण्डित्यपूर्ण ढग से चित्रित है। लेखक ने खूब अध्ययन किया है, परिश्रम से लिखा है।

—डा० रामचरण महेन्द्र, एम० ए०, पी-एच० डी०
प्राध्यापक, राजकीय महाविद्यालय, कोटा

मुनि श्री नथमल ने तेरापथ के प्रवर्तक आचार्य श्री भिक्षु के जीवन-दर्शन को सरल भाषा में प्रस्तुत करने का एक सराहनीय प्रयत्न किया है। × × × आचार्य भिक्षु के साधनामय जीवन एव सघर्पमय जीवन का सुन्दर चित्र देखकर पाठक बहुत प्रभावित होंगे तथा आचार्य की जीवनचर्या से परिचित हो सकेंगे। आदर्श-चरित्र पर इस प्रकार की कृतियों का हृदय से स्वागत होना चाहिए।

—डा० हरीश, एम० ए०, पी-एच डी०
महाराणा भूपाल कालेज, उदयपुर

आचार्य भिक्षु का जीवन-दर्शन अपनी सरलता, सुवाच्यता व गहराई के कारण मन में रमा। मुनि श्री नथमलजी ने जिस तत्परता, श्रम और विवेक पूर्वक उसे साधा है, वह अनुकरणीय है।

—आचार्य सर्वे
सार्वजनिक सम्पर्क कार्यालय, जयपुर

श्वेताम्बर तेरापन्थ के प्रवर्तक आचार्य भिक्षु का जीवन, व्यक्तित्व उनके विचारों का दिग्दर्शन तथा उनकी सघ-व्यवस्था का सुबोध कराने के लिये श्री मुनि नथमलजी ने पर्याप्त श्रम किया है। अनेक सुगम दृष्टान्तों के द्वारा दुर्ज्ञेय विषय को सरल और रोचक बनाने का प्रयत्न इसमें किया गया है। इस पुस्तक के पृष्ठों में आचार्य भिक्षु के प्रतिभाशाली व्यक्तित्व को हर-एक समझदार समझ सकता है।

—पं० पन्नालाल जैन शास्त्री
श्री भारतवर्षीय दिगम्बर जैन
विद्वत्परिषद्, सागर

आचार्य भिक्षु के विचारों सिद्धान्तों संगठन आचार-शुद्धि संयम-पालन तथा अहिंसा आदि पर प्रकाश इस पुस्तक में प्रस्तुत है। अनुभूतियों पढ़कर अनेक स्थलों पर शाश्वत सत्य के दर्शन होते हैं।

—डा० अरविन्द मोहन एम० एस-सी० पी-एच० डी०
प्राध्यापक प्रयाग विश्वविद्यालय

मुनि श्री नथमलजी ने "भिक्षु विचार दर्शन" में आचार्य भीखणजी के व्यक्तित्व आदर्शों एवं विचारों को आकर्षक रूप में प्रस्तुत किया है।

—डॉ० ज्योतिप्रसाद जैन एम० ए० एल-एल० बी०
पी-एच०डी०
लखनऊ

इस साहित्य का महत्व न केवल दार्शनिक दृष्टि से वरन साहित्यिक दृष्टि से भी मान्य होना आवश्यक है।

—डॉ० रामकुमार वर्मा एम०ए० पी-एच० डी०
प्राध्यापक प्रयाग विश्वविद्यालय